☐ प्रकाशक

डी. आर. मेहता

सचिव, प्राकृत भारती अकादमी,
3826, यति श्यामलाल जी का उपाश्रय,
मोतीसिंह भोमियों का रास्ता,
जयपुर–302003

●

पारसमल भंसाली

अध्यक्ष, श्री जैन श्वेताम्बर नाकोडा पार्श्वनाथ तीर्थ,
पो मेवानगर, स्टेशन बालोतरा–344025 (राज०)

●

भूपेन्द्रनाथ जैन

सचिव, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, आई टी. आई रोड़,
वाराणसी- 221005,

☐ प्रथम संस्करण अक्तूबर, 1988

☐ मूल्य 30/–

☐ मुद्रक

पोपुलर प्रिन्टर्स,

नवाब साहब की हवेली,

प्रकाशकीय

प्राकृत भारती के ४६वे पुष्प के रूप मे ऋषिभाषित सूत्र प्रकाशित हुआ है। यह उल्लेखनीय है कि यह प्राचीन ग्रन्थ अपनी विषयवस्तु की दृष्टि से समन्वय तथा सौहार्द्रता का एक विशिष्ट सोपान है। विद्वानो के अनुसार ऋषिभाषित का रचना काल २४०० वर्ष पूर्व आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के रचनाकाल के समकालीन है। जैन ही नही अपितु समस्त भारतीय वाड्मय का सभवत यह प्रथम ग्रन्थ है, जिसमे वैदिक, बौद्ध तथा जैन तीनो परम्पराओ के ऋषियो एव श्रमणो को समान रूप से सम्मानित किया है। सामान्यतया प्रत्येक परम्परा मे ऐसे ग्रन्थ खडन-मडन की भावना से ओत-प्रोत होते है। पर, यह अनोखा ग्रन्थ विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओ के प्रणेता आचार्यों के मौलिक सिद्धान्तो का अभूतपूर्व सगम है। आज के विघटनपूर्ण वातावरण मे जहाँ एकान्तवादी विचारधारा प्रमुख तथा अनेकान्तवादी विचारधारा गौण होती जा रही है वहाँ इस प्रकार का समन्वय स्पृहणीय है।

डॉ सागरमल जी जैन ने हमारा आग्रह स्वीकार कर उक्त ग्रन्थ की भूमिका लिखने का भार ग्रहण किया था। वही भूमिका लिखते समय उन्हे यह आवश्यक जान पडा कि ग्रन्थ की भूमिका विस्तृत होनी चाहिये तथा ग्रन्थ मे चर्चित ऋषियो का तुलनात्मक अध्ययन भी उसमे सम्मिलित होना चाहिये। अतएव डॉ सागरमल जी ने इस कार्य को वैदूष्य पूर्ण शोध शैली मे सम्पन्न किया।

ऋषिभाषित सूत्र की भूमिका के रूप मे लिखित इस पुस्तक का शोध-कर्त्ताओ के लिये एक पृथक् महत्त्व है और इसी कारण इस पृथक् पुस्तक को प्राकृत भारती के ४९वे पुष्प के रूप मे अपने पाठको के सम्मुख रखते हुये हमे हर्ष हो रहा है।

पुस्तक का अग्रेजी अनुवाद भी शीघ्र प्रकाश्य है। सुन्दर मुद्रण के लिये पॉपुलर प्रिन्टर्स धन्यवाद के पात्र है।

भूपेन्द्रनाथ जैन	पारसमल भसाली	डी. आर. मेहता
सचिव	अध्यक्ष	सचिव
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी	जैन श्वेताम्बर नाकोडा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर	प्राकृत भारती अकादमी जयपुर

अनुक्रमणिका

ऋषिभाषित : एक अध्ययन

□ प्रो० सागरमल जैन

जन आगम साहित्य मे ऋषिभाषित का स्थान—

ऋषिभाषित- (इसिभासियाइ) अर्धमागधी जैन आगम साहित्य का एक प्राचीनतम ग्रन्थ है। वर्तमान मे जैन आगमो के वर्गीकरण की जो पद्धति प्रचलित है, उसमे इसे प्रकीर्णक ग्रन्थो के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाता है। दिगम्बर परम्परा मे १२ अग और १४ अगबाह्य माने गये है किन्तु उनमे ऋषिभाषित का उल्लेख नही है। श्वेताम्बर जैन परम्परा मे स्थानकवासी और तेरापथी, जो ३२ आगम मानते हैं, उनमे भी ऋषिभाषित का उल्लेख नही है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा मे ११ अग, १२ उपाग, ६ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र, २ चूलिकासूत्र और १० प्रकीर्णक, ऐसे जो ४५ आगम माने जाते हैं, उनमे भी १० प्रकीर्णको मे हमे कही ऋषिभाषित का नाम नही मिलता। यद्यपि नन्दीसूत्र और पक्खीसूत्र मे जो कालिक सूत्रो की गणना की गयी है उनमे ऋषिभाषित का उल्लेख है[1]। आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थभाष्य मे अग-बाह्य ग्रन्थो की जो सूची दी है उसमे सर्वप्रथम सामायिक आदि ६ ग्रन्थो का उल्लेख है और उसके पश्चात् दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशा

---

१ (अ) से किं कालिय ? कालिय अणेगविह पण्णत्तं।
त जहा उत्तरज्झयणाइ १, दसाओ २, कप्पो ३, ववहारो ४, निसीह ५, महानिसीह ६, **इसिभासियाइ** ७, जम्बुद्दीवपण्णत्ती ८, दीवसागरपण्णत्ती।
—नन्दिसूत्र ८४।

—(महावीर विद्यालय, बम्बई १९६८)

(ब) नमो तेसिं खमासमणाण जेहिं इम वाइअ अगवाहिर कालिअ भगवत।
त जहा—१, उत्तरज्झयणाइ २, दसाओ ३, कप्पो ४, ववहारो ५, **इसिभासिआइ** ६, निसीह ७, महानिसीह........।

(ज्ञातव्य है कि पक्खियसुत्त मे अग-बाह्य ग्रन्थो की सूची मे २८ उत्कालिक और ३६ कालिक कुल ६४ ग्रन्थो के नाम हैं। इनमे ६ आवश्यक और १२ अग मिलाने से कुल ८२ की सख्या होती है, लगभग यह सूची विधिमार्गप्रपा मे भी उपलब्ध होती है।)

—पक्खियसुत्त (पृ० ७९)
(देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड सीरिज क्रमाक ९९)

(आचारदशा) कल्प, व्यवहार, निशीथ और ऋषिभाषित का उल्लेख है [२]। हरिभद्र आवश्यकनिर्युक्ति की वृत्ति मे एक स्थान पर इसका उल्लेख उत्तराध्ययन के साथ करते हैं [३] और दूसरे स्थान पर 'देविन्दथुय' नामक प्रकीर्णक के साथ [४]। हरिभद्र के इस भ्रम का कारण यह हो सकता है कि उनके सामने ऋषिभाषित (इसिभासियाइ) के साथ साथ ऋषिमण्डल स्तव (इसिमण्डलत्थउ) नामक ग्रन्थ भी था, जिसका उल्लेख आचाराग-चूर्णि मे है और उनका उद्देश्य ऋषिभाषित को उत्तराध्ययन के साथ और ऋषिमण्डलस्तव को 'देविन्दथुय' के साथ जोडने का होगा। यह भी स्मरणीय है कि इसिमण्डल (ऋषिमण्डल) मे न केवल ऋषिभाषित के अनेक ऋषियो का उल्लेख है, अपितु उनके इसिभासियाइ मे जो उपदेश और अध्याय है उनका भी सकेत है। इससे यह भी निश्चित होता है कि इसिमण्डल का कर्ता ऋषिभाषित से अवगत था। मात्र यही नही, ऋषिमण्डल मे तो क्रम और नामभेद के साथ ऋषिभाषित के लगभग सभी ऋषियो का उल्लेख मिलता है। इसिमण्डल का उल्लेख आचाराग-चूर्णि 'इसिणामकित्तण इसिमण्डलत्थउ' (पृष्ठ ३७४) मे होने से यह निश्चित ही उसके पूर्व (७ वी शती के पूर्व) का ग्रन्थ है। विद्वानो को इस सम्बन्ध मे विशेष रूप से चिन्तन करना चाहिए। इसिमण्डल के सम्बन्ध मे यह मान्यता है कि वह तपागच्छ के धर्मघोषसूरि की रचना है, किन्तु मुझे यह धारणा भ्रान्त प्रतीत होती है, क्योकि ये १४ वी शती के आचार्य है। वस्तुत इसिमण्डल की भाषा से भी ऐसा लगता है कि यह प्राचीन ग्रन्थ है और इसकाँ लेखक ऋषिभाषित का ज्ञाता है। आचार्य जिनप्रभ ने विधिमार्गप्रपा मे तप आराधना के साथ आगमो के स्वाध्याय की, जिस विधि का वर्णन किया है, उसमे प्रकीर्णको मे ऋषिभाषित का उल्लेख करके प्रकीर्णक अध्ययनक्रम विधि को समाप्त किया

---

२ अगबाह्यमनेकविधम्। तद्यथा–सामायिक, चतुर्विंशति स्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायव्युत्सर्गः प्रत्याख्यान, दशवैकालिक, उत्तराध्याया, दशा, कल्पव्यवहारौ, निशीथ, ऋषिभाषितानीत्येवमादि।

—तत्त्वार्थधिगमसूत्रम् (स्वोपज्ञभाष्य) १/२०
(देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, क्रम सख्या ५७)

३ तथा ऋषिभाषितानि उत्तराध्ययनादीनि ।

—आवश्यक निर्युक्तिः, हारिभद्रीयवृत्ति पृ० २०६

४. ऋषिभापिताना च देवेन्द्रस्तवादीना निर्युक्ति... ।

—आवश्यक निर्युक्ति, हारिभद्रीय वृत्ति पृ० ४१

है[५]। इस प्रकार वर्गीकरण की प्रचलित पद्धति मे ऋषिभाषित की गणना प्रकीर्णक सूत्रो मे का जा सकती है।

प्राचीन काल मे जैन परम्परा मे इसे एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता था। आवश्यक निर्युक्ति मे भद्रबाहु ऋषिभाषित पर भी निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा करते हैं,[६] वर्तमान मे यह निर्युक्ति उपलब्ध नही होती है। आज तो यह कहना भी कठिन है कि यह निर्युक्ति लिखी भी गई थी या नही। यद्यपि 'इसिमण्डल' जिसका उल्लेख आचारागचूर्णि मे है, इससे सम्बन्धित अवश्य प्रतीत होता है। इन सबसे इतना तो सिद्ध हो जाता है कि ऋषिभाषित एक समय तक जैन परम्परा का महत्वपूर्ण ग्रन्थ रहा है। स्थानाग मे इसका उल्लेख प्रश्नव्याकरणदशा के एक भाग के रूप मे हुआ है[७]। समवायाग इसके ४४ अध्ययनो का उल्लेख करता

---

५ इसिभासियाइ पणयालीस अज्झयणाइ कालियाइ, तेसु दिण ४५ निव्विएहिं अणागाढ-जोगो। अण्णे भणति उत्तरज्झयणेसु चेव एयाइ अतब्भवति।

विधिमार्गप्रपा पृ० ५८

देविंदत्थयमाई पइण्णगा होति इगिगनिविएण।
इसिभासिय अज्झयणा आयबिलकालतिगसज्झा ॥ ६१ ॥
केसिं चि मए अतब्भवति एयाइ उत्तरज्झयणे।
पणयालीस दिणेहिं केसिं वि जोगो अणागाढो ॥ ६२ ॥

विधिमार्गप्रपा पृ० ६२

(ज्ञातव्य है कि प्रकीर्णको की सख्या के सम्बन्ध मे विधिमार्गप्रपा मे भी मतैक्य नही है। 'सज्झायपट्ठवण विही' पृ० ४५ पर ११ अग, १२ उपाग, ६ छेद, ४ मूल एव २ चूलिका, सूत्र के घटाने पर लगभग ३१ प्रकीर्णको के नाम मिलते हैं। जबकि पृ० ५७–५८ पर ऋषिभाषित सहित १५ प्रकीर्णको का उल्लेख है।)

६ (अ) कालियसुय च इसिभासियाइ तइओ य सूरपण्णत्ती।
सव्वो य दिट्ठिवाओ चउत्थओ होई अणुओगो ॥ १२४ ॥ (मू० भा०)
तथा ऋषिभाषितानि उत्तराध्ययनादीनि "तृतीयश्च" कालानुयोग,

—आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति : पृ० २०६

(ब) आवस्सगस्स दसकालिअस्स तह उत्तरज्झयणायारे।
सूयगडे निज्जुत्ति वुच्छामि तहा दसाण च ॥
कप्पस्स य निज्जुत्ति ववहारस्सेव परमणिउणस्स।
सूरिअपण्णत्तीए वुच्छ इसिभासिआण च ॥

आवश्यकनिर्युक्ति ८४–८५

७ पण्हावागरणदसाण दस अज्झयणा पन्नता, तजहा—उवमा, सखा, इसिभासियाइ, आयरियभासिताइ, महावीरभासिताइ, खोमपसिणाइ, कोमलपसिणाइ उद्दागपसिणाइ, बाहुपसिणाइ।

—ठाणगसुत्ते, दसम अज्झयण दसट्ठाण
(महावीर जैन विद्यालय सस्करण पृ० ३११)

है[८]। जैसा कि पूर्व मे हम सूचित कर चुके है नन्दीसूत्र, पक्खीसूत्र आदि मे इसकी गणना कालिकसूत्रो मे की गई है। आवश्यकनिर्युक्ति इसे धर्मकथानुयोग का ग्रन्थ कहती है (आवश्यक-निर्युक्ति हारिभद्रीय वृत्ति· पृ. २०६)।

ऋषिभाषित का रचनाक्रम एवं काल—

यह ग्रन्थ अपनी भाषा, छन्द-योजना और विषय वस्तु की दृष्टि से अर्धमागधी जैन आगम ग्रन्थो मे अतिप्राचीन है। मेरी दृष्टि मे यह ग्रन्थ आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध से किंचित् परवर्ती तथा सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक जैसे प्राचीन आगम ग्रन्थो की अपेक्षा पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। मेरी दृष्टि मे इसका वर्तमान स्वरूप भी किसी भी स्थिति मे ईसवी पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी से परवर्ती सिद्ध नही होता है। स्थानाग मे प्राप्त सूचना के अनुसार यह ग्रन्थ प्रारम्भ मे प्रश्नव्याकरणदशा का एक भाग था, स्थानाग मे प्रश्नव्याकरण दशा की जो दस दशाए वर्णित है, उसमे ऋषिभाषित का भी उल्लेख है। समवायाग इसके ४४ अध्ययन होने की भी सूचना देता है। अत· यह इनका पूर्ववर्ती तो अवश्य ही है। सूत्रकृतांग मे नमि, वाहुक, रामपुत्त, असित देवल, द्वैपायन, पराशर आदि ऋषियो का एवं उनकी आचारगत मान्यताओ का किंचित् निर्देश है। इन्हे तपोधन और महापुरुष कहा गया है। उसमे कहा गया है कि पूव ऋषि इस (आर्हत् प्रवचन) मे 'सम्मत' माने गये हैं। इन्होने (सचित्त) वीज और पानो का सेवन करके भी मोक्ष प्राप्त किया था[९]। अत पहला प्रश्न यही उठता ह कि इन्हे सम्मानित रूप मे जैन परम्परा मे सूत्रकृताग के पहले किस ग्रन्थ मे स्वीकार किया गया है ? मेरी दृष्टि मे केवल ऋषिभाषित ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमे इन्हें सम्मानित रूप से स्वीकार किया गया है। सूत्रकृताग की गाथा का 'इह-सम्मता' शव्द स्वय सूत्रकृताग को अपेक्षा ऋषिभाषित के पूर्व अस्तित्व की सूचना देता है। ज्ञातव्य है कि सूत्रकृताग

---

८ चोत्तालीम अज्झयणा इसिभासिया दियलोगचुताभासिया पण्णत्ता।

—समवायगसुत्त–४४

९ आहसु महापुरिसा पुव्वि तत्ततवोधणा।
उदएण सिद्धिभावन्ना तत्थ मदो विसीयति॥ १॥

अभुजिया नमी विदेही, रामपुत्ते या भुजिआ।
वाहुए उदग भोच्चा तहा नारायणे रिसी॥ २॥

आसिते दविले चेव दीवायण महारिसी।
पारासरे दग भोच्चा वीयाणि हरियाणि य॥ ३॥

एते पुव्व महापुरिसा आहिता इह सम्मता।
भोच्चा वीओदग सिद्धा इति मेयमणुस्सुअ॥ ४॥

—सूत्रकृताग १/३/४/१–४

और ऋषिभाषित दोनो मे जैनेतर परम्परा के अनेक ऋषियो यथा असित देवल, बाहुक आदि का सम्मानित रूप मे उल्लेख किया गया है। यद्यपि दोनो की भाषा एव शैली भी मुख्यत पद्यात्मक ही है, फिर भी भाषा के दृष्टिकोण से विचार करने पर सूत्रकृताग के प्रथम श्रुतस्कध की भाषा भी ऋषिभाषित की अपेक्षा परवर्तीकाल की लगती है। क्योकि, उसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत के निकट है, जबकि ऋषिभाषित की भाषा कुछ परवर्ती परिवर्तन को छोडकर प्राचीन अर्धमागधी है। पुन जहाँ सूत्रकृताग मे इतर दार्शनिक मान्यताओ की समालोचना की गयी है वहाँ ऋषिभाषित मे इतर परम्परा के ऋषियो का सम्मानित रूप मे ही उल्लेख हुआ है। **यह सुनिश्चित सत्य है कि ग्रन्थ जैन धर्म एव संघ के सुव्यवस्थित** होने के पूर्व लिखा गया था। इस ग्रन्थ के अध्ययन से स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि इसके रचनाकाल तक जैन सघ मे साम्प्रदायिक अभिनिवेश का पूर्णत अभाव था। मखलि गोशालक और उसकी मान्यताओ का उल्लेख हमे जैन आगम सूत्रकृताग[१०], भगवती[११], और उपासकदशाग[१२] मे और बौद्ध परम्परा के सुत्तनिपात, दीघनिकाय के सामञ्ञ-फलसुत्त[१३] आदि मे मिलता है। सूत्रकृताग मे यद्यपि स्पष्टत मखलि गोशालक का उल्लेख नही है, किन्तु उसके आर्द्रक नामक अध्ययन मे नियतिवाद की समालोचना अवश्य है। यदि हम साम्प्रदायिक अभिनिवेश के विकास की दृष्टि से विचार करे तो भगवती का मखलि गोशालक वाला प्रकरण सूत्रकृताग और उपासकदशाग की अपेक्षा भी पर्याप्त परवर्ती सिद्ध होगा। सूत्रकृताग, उपासकदशाग और पालि-त्रिपिटक के अनेक ग्रन्थ मखलि गोशालक के नियतिवाद को प्रस्तुत करके उसका खण्डन करते है। फिर भी जैन आगम ग्रन्थो की अपेक्षा सुत्तनिपात मे मखलि गोशालक की गणना बुद्ध के समकालीन छह तीर्थंकरो मे करके उनके महत्व और प्रभावशाली व्यक्तित्व का वर्णन अवश्य किया गया है[१४], किन्तु पालि-त्रिपिटक के प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात की अपेक्षा भी ऋषिभाषित मे उसे अर्हत् ऋषि कह

---

१० सूत्रकृताग २/६/१–३, ७, ६

११ भगवती, शतक १५

१२ उपासकदशाग अध्याय ६ एव ७

१३ (अ) सुत्तनिपात ३२ सभियसुत्त
(ब) दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त

१४ ये ते समणब्राह्मणा सगिनो गणिनो गणाचरिया ञाता यसस्सिनो तित्थकरा साधु सम्मता बहुजनस्स, सेय्यथीद–पूरणो कस्सपो, मक्खलि गोसालो, अजितो केसकम्बली, पकुधो कच्चायनो, सजयो बेलट्ठिपुत्ता, निगण्ठो नातपुत्तो।

—सुत्तनिपात, ३२–सभियसुत्त

कर सम्मानित किया गया है। अत धार्मिक उदारता की दृष्टि से ऋषिभाषित की रचना पालि त्रिपिटक की अपेक्षा भी प्राचीन है। क्योकि, किसी भी धर्म सघ के सुव्यवस्थित होने के पश्चात् ही उसमे साम्प्रदायिक अभिनिवेश का विकास होता है। ऋषिभाषित स्पष्टरूप से यह सूचित करता है कि उसकी रचना जैन परम्परा मे साम्प्रदायिक अभिनिवेश आने के बहुत पूर्व हो चुकी थी। केवल आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोडकर शेष सभी जैन आगम ग्रन्थो मे यह धार्मिक अभिनिवेश न्यूनाधिक रूप मे अवश्य परिलक्षित होता है। अत. ऋषिभाषित केवल आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोडकर शेष सभी जैनागमो से प्राचीन सिद्ध होता है। भाषा, छन्द-योजना आदि की दृष्टि से भी यह आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध और सूत्रकृताग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के मध्य मे ही सिद्ध होता है।

बौद्ध त्रिपिटक साहित्य मे प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात है[१५] किन्तु उसमे भी वह उदारता नही है जो ऋषिभाषित मे है। त्रिपिटक साहित्य मे ऋषि-भाषित मे उल्लेखित कुछ ऋषियो यथा नारद[१६], असितदेवल[१७], पिंग[१८], मखलिपुत्र[१९], सजय (वेलट्ठिपुत्त)[२०], वर्धमान (निग्गट्ठ नायपुत्त)[२१], कुमापुत्त[२२], आदि के उल्लेख है, किन्तु इन सभी को बुद्ध से निम्न ही बताया गया है– दूसरे शब्दो मे वे ग्रन्थ भी साम्प्रदायिक अभिनिवेश से मुक्त नही है, अत यह उनका भी पूर्ववर्ती ही है। ऋषिभाषित मे उल्लेखित अनेक गाथाश और गाथाये भाव, भाषा और शब्दयोजना की दृष्टि से जैन परम्परा के सूत्रकृताग उत्तराध्ययन, दशवैकालिक

---

१५ (अ) पालिसाहित्य का इतिहास (भरतसिंह उपाध्याय) पृ० १०२–१०४
(ब) It is .... the oldest of the poetic good of the Buddhist Scriptures
- The Suttanipata (sister Vayira) introduction for P 2

१६ उभो नारद पवता।
—सुत्तनिपात ३२, सभियसुत्त ३४,

१७ असितो इसि अद्दस दिवाविहारे।
—सुत्तनिपात ३२, नालक सुत्त १

१८ जिण्णोऽहमस्मि अबलो वीतवण्णे (इच्चायस्मा पिंगियो)।
—सुत्तनिपात ७१ पिंगियमाणवपुच्छा

१९ सुत्तनिपात ३२, सभियसुत्त।

२० वही

२१ वही।

२२ थेरगाथा ३६; डिक्सनरी ओफ पाली प्रापर नेम्स।
—वोल्यूम प्रथम, पेज ६२१, वाल्यूम द्वितीय पेज १५

और बौद्ध परम्परा के सुत्तनिपात, धम्मपद आदि प्राचीन ग्रन्थो मे पाई जाती है। अत उनकी रचना-शैली की अपेक्षा भी यह पूर्ववर्ती ही सिद्ध होता है। यद्यपि यह तर्क दिया जा सकता है कि यह भी सभव है कि ये गाथायें एव विचार बौद्ध त्रिपिटक साहित्य एव जैन ग्रन्थ उत्तराध्ययन एव दशवैकालिक से ऋषिभाषित मे गये हो, किन्तु यह बात इसलिए समुचित नही है कि प्रथम तो ऋषिभाषित की भाषा, छन्द-योजना, आदि इन ग्रन्थो की अपेक्षा प्राचीनकाल की है और आचाराग एव सूत्रकृताग के प्रथम श्रुतस्कन्ध तथा सुत्तनिपात के अधिक निकट है। दूसरे जहाँ ऋषिभाषित मे इन विचारो को अन्य परम्पराओ के ऋषियो के सामान्य सिद्धान्त के रूप मे प्रस्तुत किया गया है, वहाँ बौद्ध त्रिपिटक साहित्य और जैन साहित्य मे इन्हे अपनी परम्परा से जोडने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरण के रूप मे आध्यात्मिक कृषि चर्चा ऋषिभाषित[२३] मे दो बार और

---

२३ (अ) 'आता छेत्त, तवो बीय, सजमो जुअणगल।
झाण फालो निसित्तो य, सवरो य बीय दढ॥ ८॥
अकूडत्त च कुडेसु, विणए णियमणे ठिते।
तितिक्खा य हलीसा तु, दया गुत्ती य पग्गहा॥ ९॥
सम्मत्त गोत्थणवो, समिती उ समिला तहा।
धितिजोत्तसुसबद्धा सव्वण्णुवयणे रया॥ १०॥
पचेव इदियाणि तु खन्ता दन्ता य णिज्जिता।
माहणेसु तु ते गोणा गभीर कसते किसि॥ ११॥
तवो बीय अवझ से, अहिंसा णिहण पर।
ववसातो घण तस्स, जुत्ता गोणा य सगहो॥ १२॥
धिती खल वसुयिक, सद्धा मेढी य णिच्चला।
भावणा उ वती तस्स, इरिया दार सुसवुड॥१३॥
कसाया मलण तस्स, कित्तिवातो व तक्खमा।
णिज्जरा तु लवामीसा इति दुक्खाण णिक्खति॥ १४॥
एत किसि कसित्ताण सव्वसत्तदयावह।
माहणे खत्तिए वेस्से सुद्दे वापि विसुज्झती॥ १५॥

—इसिभासियाइ २६/८–१५

(ब) कतो छेत्त, कतो बीय, कतो ते जुगणगले ?
गोणा वि ते ण पस्सामि, अज्जो, का णाम ते किसी ?॥ १॥
आता छेत्त, तवो बीय, सजमो जुगणगल।
अहिंसा सम्मिती जोज्जा, एसा धम्मन्तरा किसी॥ २॥
एसा किसी सोभतरा अलुद्धस्स वियाहिता।
एसा बहुसई होई परलोकसुहावहा॥ ३॥

सुत्तनिपात[२४] मे एक बार हुई है, किन्तु जहाँ सुत्तनिपात मे बुद्ध कहते है कि मैं इस प्रकार की आध्यात्मिक कृषि करता हूँ, वहाँ ऋषिभाषित का ऋषि कहता है कि जो भी इस प्रकार की कृषि करेगा वह चाहे ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो मुक्त होगा। अत· ऋषिभाषित आचाराग प्रथम श्रुतस्कध को छोडकर जैन और बौद्ध परम्परा के अन्य ग्रन्थो की अपेक्षा प्राचीन ही सिद्ध होता है।

भाषा की दृष्टि से विचार करने पर हम यह भी पाते है कि ऋषिभाषित मे अर्धमागधी प्राकृत का प्राचीनतम रूप बहुत कुछ सुरक्षित है। उदाहरण के रूप मे ऋषिभाषित मे आत्मा के लिए 'आता' का प्रयोग हुआ है, जबकि जैन अग आगम साहित्य मे भी अत्ता, अप्पा, आदा, आया, आदि शब्दो का प्रयोग देखा जाता है जो कि परवर्ती प्रयोग है। 'त' श्रुति की बहुलता निश्चित रूप से इस ग्रन्थ को उत्तराध्ययन की अपेक्षा पूर्ववर्ती सिद्ध करती है, क्योकि उत्तराध्ययन की भाषा मे 'त' के लोप की प्रवृत्ति देखी जाती है। ऋषिभाषित मे जाणति, परितप्पति, गच्छती, विज्जती, वट्टती, पवत्तती आदि रूपो का प्रयोग बहुलता से मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि भाषा और विषय वस्तु दोनो की ही दृष्टि से यह एक पूर्ववर्ती ग्रन्थ है।

अगन्धन कुल के सर्प का रूपक हमे उत्तराध्ययन[२५], दशवैकालिक[२६]

एय किसिं कसित्ताण सव्वसत्तदयावह ।
माहणे खत्तिए वेस्से सुद्दे वावि य सिज्झती ॥ ४ ॥

—इसिभासियाइ ३२/१–४

२४ सद्धा बीज तपो वुट्ठि पञ्ञा मे युगनगल ।
हिरि ईसा मनो योत्त सति मे फालपाचन ॥ २ ॥
कायगुत्तो वचोगुत्तो आहारे उदरे यतो ।
सच्च करोमि निदान सोरच्च मे पमाचन ॥ ३ ॥
विरिय मे धुरधोरम्ह योगक्खेमाधिवाहन ।
गच्छति अनिवत्तन्त यत्थ गन्त्वा न सोचति ॥ ४ ॥
एवमेसा कसी कट्ठा सा होति अमतप्फला ।
एत कसिं कसित्वान सव्वदुक्खा पमुच्चतीति ॥ ५ ॥

—सुत्तनिपात, ४–कसिभारद्वाजसुत्त

२५ अह च भोयरायस्स त च सि अन्धगवण्हिणो ।
मा कुले गन्धणा होमो सजम निहुओ चर ॥

—उत्तराध्ययन २२/४४

२६ पक्खदे जलिय जोइ, धूमकेउ दुरासय ।
नेच्छति वनय भोत्तु, कुले जाया अगधणे ॥

—दसवैकालिक २/६

और ऋषिभाषित[२७] तीनो मे मिलता है। किन्तु, तीनो स्थानो के उल्लेखो को देखने पर यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि ऋषिभाषित का यह उल्लेख उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिक की अपेक्षा अत्यधिक प्राचीन है। क्योकि, ऋषिभाषित मे मुनि को अपने पथ से विचलित न होने के लिए इसका मात्र एक रूपक के रूप मे प्रयोग हुआ है, जबकि दशवैकालिक और उत्तराध्ययन मे यह रूपक राजमती और रथनेमि की कथा के साथ जोडा गया है।

अत ऋषिभाषित सुत्तनिपात, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक की अपेक्षा प्राचीन है। इस प्रकार ऋषिभाषित आचाराग प्रथम श्रुतस्कन्ध का परवर्ती और शेष सभी अर्धमागधी आगम साहित्य का पूर्ववर्ती ग्रन्थ है। इसी प्रकार पालि त्रिपिटक के प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात की अपेक्षा भी प्राचीन होने से सम्पूर्ण पालि त्रिपिटक से भी पूर्ववर्ती है।

जहाँ तक इसमे वर्णित ऐतिहासिक ऋषियो के उल्लेखो के आधार पर काल-निर्णय करने का प्रश्न है वहाँ केवल वज्जीयपुत्र को छोडकर शेष सभी ऋषि महावीर और बुद्ध से या तो पूर्ववर्ती है या उनके समकालिक है। पालि-त्रिपिटक के आधार पर वज्जीयपुत्त (वात्सीयपुत्र) भी बुद्ध के लघुवयस्क समकालीन ही है— वे आनन्द के निकट थे। वज्जीपुत्रीय सम्प्रदाय भी बुद्ध के निर्वाण की प्रथम शताब्दी मे ही अस्तित्व मे आ गया था। अत इनका बुद्ध का लघुवयस्क समकालीन होना सिद्ध है। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से भी ऋषिभाषित बुद्ध और महावीर के निर्वाण की प्रथम शताब्दी मे ही निर्मित हो गया होगा। यह सम्भव है कि इसमे बाद मे कुछ परिवर्तन हुआ हो। मेरी दृष्टि मे इसके रचनाकाल की पूर्व सीमा ईसा पूर्व ५वी शताब्दी और अन्तिम सीमा ई०पू० ३ शती के बीच ही है। मुझे अन्त और बाह्य साक्ष्यो मे कोई भी ऐसा तत्त्व नही मिला, जो इसे इस कालावधि से परवर्ती सिद्ध करे। दार्शनिक विकास की दृष्टि से विचार करने पर भी हम इसमे न तो जैन सिद्धान्तो का और न बौद्ध सिद्धान्तो का विकसित रूप पाते है। इसमे मात्र पचास्तिकाय और अष्टविध कर्म का निर्देश है। यह भी सम्भव है कि ये अवधारणाए पार्श्वापत्यो मे प्रचलित रही हो और वही से महावीर की परम्परा मे ग्रहण की गई हो। परिषह, कषाय आदि की अवधारणाए तो प्राचीन ही है। ऋषिभाषित के वात्सीयपुत्र, महाकाश्यप, सारिपुत्र आदि बौद्ध ऋषियो के उपदेश मे भी केवल बौद्ध धर्म के प्राचीन सिद्धान्त सन्ततिवाद, क्षणिकवाद आदि ही मिलते है। अत बौद्ध दृष्टि से भी पालि-त्रिपिटक से प्राचीन है।

---

२७ अगन्धणे कुले जातो जधा जागो महाविसो।
मुचित्ता सविस भूतो पियन्तो जाती लाघव ॥

—इसिभासियाइ, ४५/४०

ऋषिभाषित की रचना—ऋषिभाषित की रचना के सम्बन्ध मे प्रो० शुब्रिग एव अन्य विद्वानो का मत है कि यह मूलतः पार्श्व की परम्परा मे निर्मित हुआ होगा, क्योकि उस परम्परा का स्पष्ट प्रभाव प्रथम अध्याय मे देखा जाता है, जहाँ ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक साथ मानकर उसे चातुर्याम की व्यवस्था के अनुरूप ढाला गया है[२९]। पुन पार्श्व का विस्तृत अध्याय भी उसी तथ्य को पुष्ट करता है। दूसरा इसे पार्श्व की परम्परा का मानने का एक आधार यह भी है कि पार्श्व की परम्परा अपेक्षाकृत अधिक उदार थी–उसकी अन्य परिव्राजक और श्रमण परम्पराओ से आचार-व्यवहार आदि मे भी अधिक निकटता थी। पार्श्वापत्यो के महावीर के सघ मे प्रवेश के साथ यह ग्रन्थ महावीर की परम्परा मे आया और उनकी परम्परा मे निर्मित दशाओ मे प्रश्नव्याकरणदशा के एक भाग के रूप मे सम्मिलित किया गया।

ऋषिभाषित का प्रश्नव्याकरण से पृथक्करण—

अब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि क्यो तो पहले उसे प्रश्नव्याकरणदशा मे डाला गया और बाद मे उसे उससे अलग कर दिया गया? मेरी दृष्टि मे पहले तो विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक उपदेशो का सकलन होने से इसे अपने आगम साहित्य मे स्थान देने मे महावीर की परम्परा के आचार्यों को कोई बाधा प्रतीत नही हुई होगी, किन्तु जब जैन सघ सुव्यवस्थित हुआ और उसकी अपनी एक परम्परा बन गई तो अन्य परम्पराओ के ऋषियो को आत्मसात करना उसके लिए कठिन हो गया। मेरी दृष्टि मे प्रश्नव्याकरण से ऋषिभाषित को अलग करना कोई आकस्मिक घटना नही है, अपितु एक उद्देश्यपूर्ण घटना है। यह सम्भव नही था कि एक ओर तो सूत्रकृताग, भगवती[३०] और उपासकदशाग[३१] मे मखलि गोशालक की तथा ज्ञाताधर्म[३२] मे नारद की आलोचना करते हुए उनके चरित्र के हनन का प्रयत्न किया जाये और दूसरी ओर उन्हे अर्हत् ऋषि कहकर उनके उपदेशो को आगम-वचन के रूप मे सुरक्षित रखा जाये। ईसा की प्रथम शती तक जैन सघ की श्रद्धा को टिकाये रखने का प्रश्न प्रमुख बन गया था। नारद, मंखलि गोशालक, याज्ञवल्क्य, सारिपुत्र आदि को अर्हत् ऋषि मानकर उनके वचनो को तीर्थंकर की आगम-वाणी के रूप मे स्वीकार करना कठिन हो गया था। यद्यपि इसे भी जैन आचार्यों का सौजन्य ही कहा जाना चाहिए कि उन्होने ऋषिभाषित को प्रश्न-

---

29 See-Introduction of Isibhasiyaim by walther Schubring, Ahmedabad—1974

३० देखें—भगवती, शतक १५

३१ देखें—उपासकदमाग, अध्याय ३ एव ७

३२ ज्ञाताधर्मकथा, द्रौपदी नामक अध्ययन

व्याकरण से अलग करके भी प्रकीर्णक ग्रन्थ के रूप मे उसे सुरक्षित रखा। साथ ही उसकी प्रामाणिकता को बनाये रखने के लिए उसे प्रत्येकबुद्ध भाषित माना। यद्यपि साम्प्रदायिक अभिनिवेश ने इतना अवश्य किया कि उसमे उल्लेखित पार्श्व, वर्धमान, मखलिपुत्र आदि को आगम मे वर्णित उन्ही व्यक्तित्वो से भिन्न कहा जाने लगा।

ऋषिभाषित के ऋषियों को प्रत्येकबुद्ध क्यो कहा गया ?

ऋषिभाषित के मूलपाठ मे केतलिपुत्र को ऋषि, अम्बड (२५) को परिव्राजक, पिंग (३२), ऋषिगिरि (३४) एव श्री गिरि को ब्राह्मण (माहण) परिव्राजक अर्हत् ऋषि, सारिपुत्र को बुद्ध अर्हत् ऋषि तथा शेष सभी को अर्हत् ऋषि के नाम से सम्बोधित किया गया। उत्कट (उत्कल) नामक अध्ययन मे वक्ता के नाम का उल्लेख ही नही है, अत उसके साथ कोई विशेषण होने का प्रश्न ही नही उठता है। यद्यपि ऋषिभाषित के अन्त मे प्राप्त होने वाली सग्रहणी गाथा मे[३३] एव ऋषिमण्डल[३४] मे इन सबको प्रत्येकबुद्ध कहा गया है तथा यह भी उल्लेख है कि इनमे से बीस अरिष्टनेमि के, पन्द्रह पार्श्वनाथ के और शेष महावीर के शासन मे मे हुए है। किन्तु, यह गाथा परवर्ती है और बाद मे जोडी गयी लगती है। मूलपाठ मे कही भी इनका प्रत्येकबुद्ध के रूप मे उल्लेख नही है। समवायाग मे ऋषिभाषित की चर्चा के प्रसग मे इन्हे मात्र देवलोक से च्युत कहा गया है, प्रत्येकबुद्ध नही कहा गया है। यद्यपि समवायाग मे ही प्रश्नव्याकरण की विषय-वस्तु का विवरण देते समय यह कहा गया है कि इसमे स्वसमय और परसमय के प्रवक्ता प्रत्येकबुद्धो के विचारो का सकलन है। चूकि ऋभिाषित प्रश्नव्याकरण का ही एक भाग रहा था। इस प्रकार ऋषिभाषित के ऋषियो को सर्वप्रथम समवायाग मे परोक्षरूप से प्रत्येकबुद्ध मान लिया गया था[३५]। यह स्पष्ट है कि ऋषिभाषित के अधिकाश ऋषि

---

३३ पत्तेयबुद्धमिसिणो बीस तित्थे अरिट्ठणेमिस्स।
पासस्स य पण्ण दस वीरस्स विलीणमोहस्स॥

—इसिभासियाइ, पृ० २०५

३४ नारयरिसिपामुक्खे, वीस सिरिनेमिनाहतित्थम्मि।
पन्नरस पासतित्थे, दस सिरिवीरस्स तित्थम्मि॥ ४४॥
पत्तेयवुद्धसाहू, नमिमो जे भासिउ सिव पत्ता।
पणयालीस इसिभासियाइ अज्झयणपराइ॥ ४५॥

—ऋषिमण्डल प्रकरणम् 'आत्मवल्लभ ग्रन्थमाला ग्रन्थाक १३, वालापुर, गाथा ४४, ४५

३५ पण्हावागरणदसासु ण ससमय-पर-समय पण्णवय पत्तेयबुद्ध-विविहत्थभासाभासियाण

—समवायाग सूत्र ५४६

जैन परम्परा मे के नही थे, अत उनके उपदेशो को मान्य रखने के लिए उन्हे प्रत्येक-बुद्ध कहा गया । जैन और बौद्ध दोनो परम्परा मे प्रत्येकबुद्ध वह व्यक्ति है, जो किसी निमित्त से स्वय प्रबुद्ध होकर एकाकी साधना करते हुए ज्ञान प्राप्त करता है, किन्तु न तो वह स्वय किसी का शिष्य बनता है और न किसी को शिष्य बनाकर सघ व्यवस्था करता है । इस प्रकार प्रत्येकबुद्ध किसी परम्परा या सघ व्यवस्था मे आबद्ध नही होता है, फिर भी वह समाज मे आदरणीय होता है और उसके उपदेश प्रामाणिक माने जाते है ।

ऋषिभाषित और जैनधर्म के सिद्धान्त—

ऋषिभाषित का समग्रत अध्ययन हमे इस सबध मे विचार करने को विवश करता है कि क्या ऋषिभापित मे अन्य परम्पराओ के ऋपियों द्वारा उनकी ही अपनी मान्यताओ का प्रतिपादन करवाया गया है अथवा उनके मुख से जैन परम्परा की मान्यताओ का प्रतिपादन करवाया गया है ? प्रथम दृष्टि से देखने पर तो ऐसा भी लगता है कि उनके मुख से जैन मान्यताओ का प्रतिपादन हुआ है । प्रो० शुब्रिंग और उनके ही आधार पर प्रो० लल्लनजी गोपाल ने प्रत्येक ऋषि के उपदेशो के प्रतिपादन के प्रारम्भिक और अन्तिम कथन की एकरूपता के आधार पर यह मान लिया है कि ग्रन्थकार ऋषियो के उपदेशो के प्रस्तुतिकरण मे प्रामाणिक नही है । उसने इनके उपदेशो को अपने ही ढग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है । अधि-काश अध्यायो मे जैन पारिभाषिक पदावली यथा पच महाव्रत, कषाय, परिषह आदि को देखकर इस कथन मे सत्यता परिलक्षित होने लगती है । उदाहरणार्थ प्रथम नारद नामक अध्ययन मे यद्यपि शौच के चार लक्षण बताये गये हैं, किन्तु यह अध्याय जैन परम्परा के चातुर्याम का ही प्रतिपादन करता है । वज्जीयपुत्त नामक द्वितीय अध्याय मे कर्म के सिद्धान्त की अवधारणा का प्रतिपादन किया गया है । यह अध्याय जीव के कर्मानुगामी होने की धारणा का प्रतिपादन करता है, साथ ही मोह को दु ख का मूल बताता है । यह स्पष्ट करता है कि जिस प्रकार बीज से अकुर और अकुर से बीज की परम्परा चलती रहती है उसी प्रकार से मोह से कर्म-और कर्म से मोह की परम्परा चलती रहती है और मोह के समाप्त होने पर कर्म सन्तति ठीक वैसे ही समाप्त होती है जैसे वृक्ष के मूल को समाप्त करने पर उसके फल पत्ती अपने आप समाप्त होते है । कर्म सिद्धान्त की यह अवधारणा ऋषिभाषित के अध्याय १३, १५, २४ और ३० मे भी मिलती है । जैन परम्परा मे इससे ही मिलता-जुलता विवरण उत्तराध्ययन के बत्तीसवें अध्याय मे प्राप्त होता है । इसी प्रकार तीसरे असित देवल नामक अध्याय मे हमे जैन परम्परा और विशेष रूप से आचाराग मे उपलब्ध पाप को लेप कहने की बात मिल जाती है । इस अध्याय मे हमे पाच महाव्रत, चार कषाय तथा इसी प्रकार हिसा से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के १८ पापो का उल्लेख भी मिलता है । यह अध्याय मोक्ष के स्वरूप का विवेचन भी करता है और उसे शिव, अतुल, अमल, अव्याघात, अपुनरावर्तन तथा

शाश्वत स्थान बताता है। मोक्ष का ऐसा ही स्वरूप हमे जैन-आगम-साहित्य मे अन्यत्र भी मिलता है। पाच महाव्रतो और चार कषायो का विवरण तो ऋषि-भाषित के अनेक अध्यायो मे आया है। महाकाश्यप नामक ९ वें अध्ययन मे पुण्य, पाप तथा सवर और निर्जरा की चर्चा उपलब्ध होती है। इसी अध्याय मे कषाय का भी उल्लेख है। नवे अध्याय मे कर्म आदान की मुख्य चर्चा करते हुए मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग को बन्धन का कारण कहा गया है जो कि जैन परम्परा के पूर्णत· अनुरूप है। इसमे जैन परम्परा के अनेक पारिभाषिक शब्द यथा उपक्रम, बद्ध, स्पृष्ट, निकाचित, निर्जीर्ण, सिद्धि, शैलेषी-अवस्था, प्रदेशोदय, विपाकोदय आदि पाये जाते हैं। इस अध्याय मे प्रतिपादित आत्मा की नित्यानित्यता की अवधारणा, सिद्धावस्था का स्वरूप एव कर्मबन्धन और निर्जरा की प्रक्रिया जैन दर्शन के समान है।

इसी तरह अनेक अध्यायो मे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अवधारणा भी मिलती है। बारहवे याज्ञवल्क्य नामक अध्ययन मे जैन परम्परा के अनुरूप गोचरी के स्वरूप एव शुद्धैषणा की चर्चा मिल जाती है। आत्मा अपने शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता और कृत-कर्मों के फल का भोक्ता है यह बात भी १५ वे मधुरायन नामक अध्ययन मे की गयी है। सतरहवे विदुर नामक अध्ययन मे सावद्ययोग, विरति और समभाव की चर्चा है। उन्नीसवें आरियायण नामक अध्याय मे आर्य ज्ञान, आर्य दर्शन और आर्य चरित्र के रूप मे प्रकारान्तर से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की ही चर्चा है। बाईसवा अध्याय धर्म के क्षेत्र मे पुरुष की प्रधानता की चर्चा करता है तथा नारी की निन्दा करता है, इसकी सूत्रकृताग के 'इत्थिपरिण्णा' नामक अध्ययन से समानता है। तेईसवे रामपुत्त नामक अध्याय मे उत्तराध्ययन (२८/३५) के समान ही ज्ञान के द्वारा जानने, दर्शन द्वारा देखने, सयम के द्वारा निग्रह करने की तथा तप के द्वारा अष्टविध कर्म के विधूनन की बात कही गयी है। अष्टविध कर्म की यह चर्चा केवल जैन परम्परा मे ही पायी जाती है। पुन चौवीसवें अध्याय मे भी मोक्ष मार्ग के रूप मे ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की चर्चा है। इसी अध्याय में देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारक—इन चतुर्गतियो की भी चर्चा है। पचीसवे अम्बड नामक अध्याय मे चार कषाय, चार विकथा, पाच महाव्रत, तीन गुप्ती, पच-इन्द्रिय सयम, छ जीव-निकाय, सात भय, आठ मद, नौ प्रकार का ब्रह्मचर्य तथा दस प्रकार के समाधिस्थान की चर्चा है। इस प्रकार इस अध्याय मे जैन परम्परा मे मान्य अनेक अवधारणायें एक साथ उपलब्ध हो जाती है। इसी अध्याय मे आहार करने के छ कारणो की चर्चा भी है, जो स्थानाग (स्थान ६) आदि मे मिलती है। स्मरण रहे कि यद्यपि जैनागमो मे अम्बड को परिव्राजक माना है, फिर भी उसे महावीर के प्रति श्रद्धावान बताया है[३६]। यही कारण है कि

---

३६ भगवती

इसमे सर्वाधिक जैन अवधारणाये उपलब्ध है । ऋषिभाषित के छब्बीसवे अध्याय मे उत्तराध्ययन के पचीसवे अध्याय के समान ही ब्राह्मण के स्वरूप की चर्चा है । इसी अध्याय मे कषाय, निर्जरा, छ. जीवनिकाय और सर्व प्राणियो के प्रति दया का भी उल्लेख है । एकतीसवे पार्श्व नामक अध्ययन मे पुन चातुर्याम, अष्ट-विध कर्मग्रन्थि, चार गति, पचास्तिकाय तथा मोक्ष स्थान के स्वरूप का दिग्दर्शन होता है । इसी अध्याय मे जैन परम्परा के समान जीव को ऊर्ध्वगामी और पुद्गल को अधोगामी कहा गया है, किन्तु पार्श्व तो जैन परम्परा मे मान्य ही है अत. इस अध्याय मे जैन अवधारणाए होना आश्चर्यजनक नही है ।

अब विद्वानो की यह धारणा भी बनी है कि जैन दर्शन का तत्त्वज्ञान पार्श्वापत्यो की ही देन है । शुब्रिग ने भी इसिभासियाइँ पर पार्श्वापत्यो का प्रभाव माना है । पुन ३२वे पिंग नामक अध्याय मे जैन परम्परा के अनुरूप चारो वर्णों की मुक्ति का भी प्रतिपादन किया गया है । २४वे अध्याय मे परिषह और उपसर्गों की चर्चा है । इसी अध्याय मे पच महाव्रत से युक्त, कषाय से रहित, छिन्नस्रोत, अनास्रव भिक्षु की मुक्ति की भी चर्चा है । पुन. ३५वे उद्दालक नामक अध्याय मे तीन गुप्ति, तीन दण्ड, तीन शल्य, चार कषाय, चार विकथा, पाच समिति, पचेन्द्रिय-सयम, योग-सन्धान एव नवकोटि परिशुद्ध, दश दोष से रहित विभिन्न कुलों की परकृत, परनिर्दिष्ट, विगतधूम, शस्त्रपरिणत भिक्षा ग्रहण करने का उल्लेख है । इसी अध्याय मे सज्ञा एव २२ परिषहो का भी उल्लेख है ।

इस प्रकार हम देखते है कि ऋषिभाषित मे अनेक जैन अवधारणायें उप-स्थित हैं । अत स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि क्या जैन आचार्यो ने ऋषिभाषित का सकलन करते समय अपनी ही अवधारणाओ को इन ऋषियो के मुख से कहलवा दिया अथवा मूलत ये अवधारणायें इन ऋषियो की ही थी और वहाँ से जैन परम्परा मे प्रविष्ट हुई ? यह तो स्पष्ट है कि ऋषिभाषित उल्लेखित ऋषियो मे पार्श्व और महावीर को छोडकर शेष अन्य सभी या तो स्वतन्त्र साधक रहे हैं या अन्य परम्पराओ के रहे हैं । यद्यपि इनमे कुछ के उल्लेख उत्तराध्ययन और सूत्रकृताग मे भी हैं । यदि हम इस तथ्य को स्वीकार करते है कि इसमे जो विचार हैं वे उन ऋषियो के नही हैं तो ग्रन्थ की और ग्रन्थकर्त्ता को प्राथमिकता खण्डित होती है, किन्तु दूसरी ओर यह मानना कि ये सभी अवधारणायें जैन परम्परा मे अन्य परम्पराओ से प्रविष्ट हुईं, पूर्णत सन्तोषप्रद नही लगता है । अत सर्वप्रथम तो हम यह परीक्षण करने का प्रयत्न करेंगे कि ऋषिभाषित मे जिन ऋषियो के उपदेश सकलित है वे उनके अपने हैं या जैन आचार्यों ने अपनी बात को उनके मुख से कहलवाया है ।

ऋषिभाषित मे उपदिष्ट अवधारणाओं की प्रामाणिकता का प्रश्न—

यद्यपि ऋषिभाषित के सभी ऋषियो के उपदेश और तत्सम्बन्धी साहित्य हमे जैनेतर परम्पराओ मे उपलब्ध नही होता, फिर भी इनमे से अनेको के विचार

और अवधारणाये आज भी अन्य परम्पराओ मे उपलब्ध हैं। याज्ञवल्क्य का उल्लेख भी उपनिषदो मे है । इसी प्रकार विदुर, नारायण, असित देवल आदि के उल्लेख महाभारत एव हिन्दू परम्परा के अन्य ग्रन्थो मे मिल जाते हैं। ऋषिभाषित मे इनके जो विचार उल्लेखित है, उनकी तुलना अन्य स्रोतो से करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते है कि ऋषिभाषित मे जिन ऋषियो के जिन विचारो का उल्लेख किया गया है उनमे कितनी प्रामाणिकता है। ऋषिभाषित के ग्यारहवे अध्याय मे मखलिपुत्र गोशालक का उपदेश सकलित है । मखलिपुत्र गोशालक के सम्बन्ध मे हमे जैन परम्परा मे भगवतीसूत्र और उपासकदशाग मे, बौद्ध परम्परा मे दीघनिकाय के सामञ्ञ महाफलसुत्त और सुत्तनिपात मे एव हिन्दू परम्परा मे महाभारत के शान्तिपर्व के १७७ वे अध्याय मे मखी ऋषि के रूप मे उल्लेख प्राप्त होता है। तीनो ही स्रोत उसे नियतिवाद का समर्थक बताते है। यदि हम ऋषिभाषित अध्याय ११ मे वर्णित मखलि गोशालक के उपदेशो को देखते हैं तो यहाँ भी हमे परोक्ष रूप से नियतिवाद के सकेत उपलब्ध हैं। इस अध्याय मे कहा गया है कि जो पदार्थों की परिणति को देखकर कम्पित होता है, वेदना का अनुभव करता है, क्षोभित होता है आहत होता है, स्पदित होता है, चलायमान होता है, प्रेरित होता है वह त्यागी नही है। इसके विपरीत जो पदार्थों की परिणति को देखकर कम्पित नही होता है, क्षोभित नही होता है, दु खित नही होता है वह त्यागी है। परोक्षरूप से यह पदार्थों की परिणति के सम्बन्ध मे नियतिवाद का प्रतिपादक है। ससार की अपनी एक व्यवस्था और गति है वह उसी के अनुसार चल रहा है, साधक को उस का ज्ञाता-द्रष्टा तो होना चाहिए किन्तु द्रष्टा के रूप मे उससे प्रभावित नही होना चाहिए। नियतिवाद की मूलभूत आध्यात्मिक शिक्षा यही हो सकती है कि हम ससार के घटनाक्रम मे साक्षी भाव से रहे । इस प्रकार यह अध्याय गोशालक के मूलभूत आध्यात्मिक उपदेश को ही प्रतिबिम्बित करता है। इसके विपरीत जैन और बौद्ध साहित्य मे जो मखलि गोशालक के सिद्धान्त का निरूपण है, वह वस्तुत· गोशालक की इस आध्यात्मिक अवधारणा से निकाला गया एक विकृत दार्शनिक फलित है। वस्तुत ऋषिभाषित का रचयिता गोशालक के सिद्धान्तो के प्रति जितना प्रामाणिक है, उतने प्रामाणिक त्रिपिटक और परवर्ती जैन आगमो के रचयिता नही हैं।

महाभारत के शान्तिपर्व के १७७ वें अध्याय मे मखि ऋषि का उपदेश सकलित है उसमे एक ओर नियतिवाद का समर्थन है, किन्तु दूसरी ओर इसमे वैराग्य का उपदेश भी है। इस अध्याय मे मूलत द्रष्टा भाव और ससार के प्रति अनासक्ति का उपदेश है। यह अध्याय नियतिवाद के माध्यम से ही अध्यात्म का उपदेश देता है। इसमे यह बताया गया है कि ससार की अपनी व्यवस्था है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से भी उसे अपने अनुसार नही मोड पाता है, अत. व्यक्ति को द्रष्टा भाव रखते हुए ससार से विरक्त हो जाना चाहिए। महाभारत के इस अध्याय की

विशेषता यह है कि मखि ऋषि को नियतिवाद का समर्थक मानते हुए भी उस नियतिवाद के माध्यम से उन्हे वैराग्य की दिशा मे प्रेरित बताया गया है।

इस आधार पर ऋषिभाषित मे मखलिपुत्र का उपदेश जिस रूप मे सकलित मिलता है वह निश्चित ही प्रामाणिक है।

इसी प्रकार ऋषिभाषित के अध्याय ९ मे महाकश्यप के और अध्याय ३८ मे सारिपुत्त के उपदेश सकलित है। ये दोनो ही बौद्ध परम्परा से सम्बन्धित रहे है। यदि हम ऋषिभाषित मे उल्लेखित इनके विचारो को देखते है तो स्पष्ट रूप से इसमे हमे बौद्धधर्म की अवधारणा के मूल तत्त्व परिलक्षित होते है। महाकश्यप अध्याय मे सर्व प्रथम ससार की दु खमयता का चित्रण है। इसमे कर्म को दु ख का मूल कहा गया है और कर्म का मूल जन्म को बताया गया है, जो कि बौद्धो के प्रतीत्य-समुत्पाद का ही एक रूप है। इसी अध्याय मे एक विशेषता हमे यह देखने को मिलती है कि, इसमे कम-सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए "सन्तानवाद" की चर्चा है जो कि बौद्धो का मूलभूत सिद्धान्त है। इस अध्याय मे निर्वाण के स्वरूप को समझाने के लिए बौद्ध दर्शन के मूलभूत दीपक वाले उदाहरण को प्रस्तुत किया गया है। पूरा अध्याय सन्तानवाद और कर्मसस्कारो के माध्यम से वैराग्य का उपदेश प्रदान करता है। इस प्रकार हम यह कह सकते है कि इसमे बौद्धधर्म के मूल बीज उपस्थित है। इसी प्रकार ३८ वे सारिपुत्त नामक अध्याय मे भी बौद्ध धर्म के मूल उत्स मध्यम मार्ग का प्रतिपादन मिलता है। इसके साथ बुद्ध के प्रज्ञावाद का भी इसमे प्रतिपादन हुआ है। इस अध्याय मे कहा गया है कि, मनोज्ञ भोजन, मनोज्ञ शयनासन का सेवन करते हुए और मनोज्ञ आवास मे रहते हुए भिक्षु सुखपूर्वक ध्यान करता है। फिर भी प्रज्ञ पुरुष को सासारिक पदार्थों मे आसक्त नही होना चाहिए, यही बुद्ध का अनुशासन है। इस प्रकार यह अध्याय भी बुद्ध के उपदेशो को प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करता है।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य नामक १२व अध्याय मे भी हम देखते है कि याज्ञवल्क्य के मूलभूत उपदेशो का प्रतिपादन हुआ है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य का उल्लेख हमे उपनिपदो एव महाभारत मे भी मिलता है [३७]। उपनिषद् मे जहाँ याज्ञवल्क्य मैत्रेयी सवाद है वहाँ उनकी सन्यास की इच्छा को स्पष्ट किया गया है। ऋषिभाषित मे भी याज्ञवल्क्य के उपदेश के रूप मे लोकैषणा और वित्तैषणा के त्याग की बात कही गयी है तथा यह कहा गया है कि जब तक लोकैषणा होती है तब तक वित्तैषणा होती है और जब वित्तैषणा होती है तो लोकैषणा होती है। इसलिए लोकैपणा और वित्तषणा के स्वरूप को जानकर गोपथ से जाना चाहिए, महापथ से नही जाना चाहिए। वस्तुत ऐसा लगता है कि यहाँ

---

३७ बृहदारण्यक उपनिपद्, द्वितीय अध्याय, चतुर्थ ब्राह्मण।

निवृत्तिमार्ग को गोपथ और प्रवृत्तिमार्ग को महापथ कहा गया है और याज्ञवल्क्य निवृत्ति मार्ग का उपदेश देते प्रतीत होते हैं। यहाँ सबसे विचारणीय बात यह है कि बौद्ध धर्म मे जो हीनयान और महायान की अवधारणा का विकास है, कही वह गोपथ और महापथ की अवधारणा का विकसित रूप तो नही है? आचाराग मे भी महायान शब्द आया है। महाभारत के शान्तिपर्व मे भी अध्याय ३१० से लेकर ३१८ तक याज्ञवल्क्य के उपदेशो का सकलन है। इसमे मुख्य रूप से साख्य और योग की अवधारणा का प्रतिपादन है। ऋषिभाषित के इस अध्याय मे मुनि की भिक्षा-विधि की भी चर्चा है जो कि जैन परम्परा के अनुरूप ही लगती है। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि ऋषिभाषित के लेखक ने याज्ञवल्क्य के मूलभूत उपदेशो को विकृत नही किया है। ऋषिभाषित के २० वें उत्कल नामक अध्याय के उपदेष्टा के रूप मे किसी ऋषि का उल्लेख नही है, किन्तु इतना निश्चित है कि इसमे चार्वाक के विचारो का पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रतिपादन हुआ है। ऋषिभाषित मे वर्धमान का जो उपदेश है उसकी यथार्थ प्रतिच्छाया आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भावना नामक अध्ययन मे एव उत्तराध्ययन के ३२वें अध्याय मे यथावत् रूप से उपलब्ध है।

उपर्युक्त आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि ऋषिभाषित मे ऋषियो के उपदेश को सामान्यरूप से प्रामाणिकता पूर्वक ही प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि इसमे मुख्य रूप से उनके आध्यात्मिक और नैतिक विचारो का ही प्रस्तुतीकरण हुआ है और उसके पीछे निहित दर्शन पर इसमे कोई बल नही दिया गया है। दूसरा यह भी सत्य है कि उनका प्रस्तुतीकरण या ग्रन्थ-रचना जैन परम्परा के आचार्यों द्वारा हुई है। अत यह स्वाभाविक था कि उसमे जैन परम्परा मे मान्य कुछ अवधारणाए प्रतिबिम्बित हो गयी हो। पुन इस विश्वास के भी पर्याप्त आधार हैं कि जिन्हे आज हम जैन परम्परा की अवधारणाए कह रहे है, वे मूलत अन्य परम्पराओ मे प्रचलित रही हो। अत ऋषिभाषित के ऋषियो के उपदेशो की प्रामाणिकता को पूर्णत निरस्त नही किया जा सकता। अधिक से अधिक हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि उन पर अपरोक्षरूप से जैन परम्परा का कुछ प्रभाव आ गया है।

ऋषिभाषित के ऋषियों की ऐतिहासिकता का प्रश्न—

यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि ऋषिभाषित मे वर्णित अधिकाश ऋषिगण जैन परम्परा से सम्बन्धित नही है। उनके कुछ के नामो के आगे लगे हुए ब्राह्मण, परिव्राजक आदि शब्द ही उनका जैन परम्परा से भिन्न होना सूचित करता है। दूसरे देव नारद, असित देवल, अगिरस भारद्वाज, याज्ञवल्क्य, वाहुक, विदुर, वारिषेण कृष्ण, द्वैपायन, आरुणि, उद्दालक, तारायण, ऐसे नाम हैं जो वैदिक परम्परा मे सुप्रसिद्ध रहे है और आज भी उनके उपदेश उपनिषदो, महाभारत एवं पुराणो मे

सुरक्षित है। इनमे से देव नारद, असित देवल, अगिरस भारद्वाज, द्वैपायन के उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त सूत्रकृताग, औपपातिक, अतकृत्दशा आदि जैन ग्रन्थो मे तथा बौद्ध त्रिपिटक साहित्य मे भी मिलते है। इसी प्रकार वज्जीयपुत्त, महाकश्यप और सारिपुत्र बौद्ध परम्परा के सुप्रसिद्ध व्यक्तित्व है और उनका उल्लेख त्रिपिटक साहित्य मे उपलब्ध है। मखलिपुत्र, रामपुत्त, अम्बड (अम्बष्ट) सजय (वेलट्ठिपुत्र) आदि ऐसे नाम है जो स्वतन्त्र श्रमण परम्पराओ से सम्बन्धित है और इनके उल्लेख जैन और बौद्ध परम्पराओ मे हमे स्पष्ट रूप से मिलते है। ऋषिभाषित के जिन ऋषियो के उल्लेख बौद्ध साहित्य मे हमे मिलते हैं उस पर विस्तृत चर्चा प्रो० सी. एस उपासक ने अपने लेख 'इसिभासियाइ एण्ड पालि बुद्धिस्ट टेक्स्ट्स ' ए स्टडी' मे किया है। यह लेख प० दलसुखभाई अभिनन्दन ग्रन्थ मे प्रकाशित हो रहा है। पार्श्व और वर्द्धमान जैन परम्परा के तेईसवे और चौबीसवे तीर्थंकर के रूप मे सुस्पष्ट रूप से मान्य है। आर्द्रक का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त सूत्रकृताग में है। इसके अतिरिक्त वल्कलचीरी, कूर्मापुत्र, तेतलिपुत्र, भयालि, इन्द्रनाग ऐसे नाम है जिनमे अधिकाश का उल्लेख जैन परम्परा के इसि-मण्डल एव अन्य ग्रन्थो मे मिल जाता है। वल्कलचीरी, कूर्मापुत्र आदि का उल्लेख बौद्ध परम्परा मे भी है। किन्तु, जिनका उल्लेख जैन और बौद्ध परम्परा मे अन्यत्र नही मिलता है, उन्हे भी पूर्णतया काल्पनिक व्यक्ति नही कह सकते। यदि हम ऋषिभाषित के ऋषियो की सम्पूर्ण सूची का अवलोकन करें तो केवल सोम, यम, वरुण, वायु और वैश्रमण, ऐसे नाम हैं जिन्हे काल्पनिक कहा जा सकता है, क्योकि जैन, बौद्ध और वैदिक तीनो ही परम्पराए इन्हे सामान्यतया लोकपाल के रूप मे ही स्वीकार करती है, किन्तु इनमे भी महाभारत मे वायु का उल्लेख एक ऋषि के रूप मे मिलता है। यम को आवश्यक चूर्णि मे यमदग्नि ऋषि का पिता कहा गया है। इस सम्भावना को पूरी तरह निरस्त नही किया जा सकता कि यम कोई ऋषि रहे हो। यद्यपि उपनिषदो मे भी यम को लोकपाल के रूप मे चित्रित किया गया है। किन्तु, इतना तो निश्चित है कि ये एक उपदेष्टा है। यम और नचिकेता का सम्वाद औपनिषदिक परम्परा मे सुप्रसिद्ध ही है। वरुण और वैश्रमण को भी वैदिक परम्परा मे मन्त्रोपदेष्टा के रूप मे स्वीकार किया गया है। यह सम्भव है कि सोम, यम, वरुण, वैश्रमण इस ग्रन्थ के रचनाकाल तक एक उपदेष्टा के रूप मे लोक परम्परा मे मान्य रहे हो और इसी आधार पर इनके उपदेशो का सकलन ऋषि-भाषित मे कर लिया गया है।

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर निष्कर्ष के रूप मे हम यह अवश्य कह सकते हैं कि ऋषिभाषित के ऋषियो मे उपर्युक्त चार-पाँच नामो को छोडकर शेष सभी प्रागैतिहासिक काल के यथार्थ व्यक्ति है, काल्पनिक चरित्र नही है।

निष्कर्ष रूप मे हम इतना ही कहना चाहेगे कि ऋषिभाषित न केवल जन परम्परा की अपितु समग्र भारतीय परम्परा की एक अमूल्य निधि है और इसमे

भारतीय चेतना की धार्मिक उदारता अपने यथार्थ रूप मे प्रतिबिम्बित होती है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका महत्वपूर्ण स्थान है, क्योकि यह हमे अधिकाश ज्ञात और कुछ अज्ञात ऋषियो के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण एव प्रामाणिक सूचनाए देता है। जैनाचार्यों ने इस निधि को सुरक्षित रखकर भारतीय इतिहास एव सस्कृति की बहुमूल्य सेवा की है। वस्तुत यह ग्रन्थ ईसा पूर्व १०वी शती से लेकर ईसा पूर्व ६ठी शती तक के अनेक भारतीय ऋषियो की ऐतिहासिक सत्ता का निर्विवाद प्रमाण है।

ऋषिभाषित के ऋषियों का काल एवं परम्परा

जैन परम्परा के अनुसार इन ४५ ऋषियो मे २० अरिष्टनेमि के काल के, १५ पार्श्व के काल के, शेष १० महावीर के काल के माने गये है।[३८] इसिमण्डल भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है। यद्यपि यदि हम इनके काल का यह वर्गीकरण इस आधार पर करे कि प्रथम २० अरिष्टनेमि के काल के, उसके बाद के १५ पार्श्व के काल के और अन्त मे १० महावीर के काल के है तो यह वर्गीकरण उचित नही बैठता, क्योकि फिर २९ वें क्रम मे स्थित वर्धमान को पार्श्व के काल का मानना होगा। और, ४०वे क्रम पर स्थित द्वैपायन को महावीर के काल का मानना होगा। जबकि स्थिति इससे भिन्न ही है। द्वैपायन अरिष्टनेमि के काल के हैं और वर्धमान स्वय महावीर ही हैं। अत यह मानना समुचित नही होगा कि जिस क्रम से ऋषिभाषित मे इन ऋषियो का उल्लेख हुआ है उस क्रम से ही वे अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर के काल मे विभाजित होते हैं। कौन ऋषि किस काल का है ? इसके सन्दर्भ मे पुर्नविचार की आवश्यकता है। शुब्रिंग ने स्वय भी इस सम्बन्ध मे स्पष्ट सकेत नही किया है। ऋषिभाषित के ऋषियो की पहचान का एक प्रयत्न शुब्रिंग ने अपनी इसिभासियाइँ की भूमिका मे किया है।[३९] उनके अनुसार याज्ञवल्क्य, बाहुक (नल), अरुण, महाशालपुत्र या आरुणि और उद्दालक स्पष्ट रूप से औपनिषदिक परम्परा के प्रतीत होते हैं। इसके साथ ही पिंग, ऋषिगिरि और श्रीगिरि इन तीनो को ब्राह्मण परिव्राजक और अम्बड को परिव्राजक कहा गया है। इसलिए यह चारो भी ब्राह्मण परम्परा से सम्बन्धित हैं। यौगन्धरायण, जिनका अम्बड से सम्वाद हुआ है, वे भी ब्राह्मण परम्परा के ऋषि प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार मधुरायण, आर्यायण, तारायण (नारायण) भी ब्राह्मण परम्परा से सम्बन्धित

---

३८ ऋषिमण्डल ४३

३९ Introduction page 3-7 ISIBHASIYAIM L D Institute of Indology Ahmedabad-9, 1974

लगते है। आगिरस और वारिषेण कृष्ण भी ब्राह्मण परम्परा से सम्बन्धित माने जाते है। शुब्रिग महाकाश्यप, सारिपुत्र और वज्जियपुत्त को बौद्ध परम्परा से सम्बन्धित मानते है। उनकी यह मान्यता मेरी दृष्टि से समुचित भी है। यद्यपि शुब्रिग ने पुष्पशालपुत्र, केतलीपुत्र, विदु, गाथापतिपुत्र तरुण, हरिगिरि, मातग और वायु को प्रमाण के अभाव मे किसी परम्परा से जोडने मे असमर्थता व्यक्त की है।

यदि हम शुब्रिग के उपर्युक्त दृष्टिकोण को उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर रखते है तो नारद, असित देवल, आगिरस भारद्वाज, याज्ञवल्क्य, उद्दालक, पिग, तारायण को स्पष्ट रूप से वैदिक या औपनिषदिक परम्परा के ऋषि मान सकते है। इसी प्रकार महाकाश्यप, सारिपुत्त ओर वज्जीपुत्त को बौद्ध परम्परा का मानने मे भी हमे कोई आपत्ति नही होगी। पार्श्व और वर्धमान स्पष्ट रूप से जैन परम्परा के माने जा सकते है। मखलिपुत्र स्पष्ट रूप से आजीवक परम्परा के है। शेष नामो के सम्बन्ध मे हमे अनेक पहलुओ से विचार करना होगा। यद्यपि पुष्पशालपुत्र, वक्कलचीरी, कुम्मापुत्त, केतलिपुत्र, भयालि, मधुरायण, सौर्यायण, आर्यायण, गर्दभालि, गाथापतिपुत्र तरुण, वारत्रय, आर्द्रक, वायु, सजय, इन्द्रनाग, सोम, यम, वरुण, वैश्रमण आदि की ऐतिहासिकता और परम्परा का निश्चय करना कठिन है, किन्तु यदि हम तीनो अर्थात् जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा मे प्राप्त उनके उल्लेख के आधार पर उनकी ऐतिहासिकता का विचार करें तो सम्भवत किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है।

प्रो सी एस. उपासक ने 'इसिभासियाइ और पॉलि बुद्धिस्ट टेक्स्ट' नामक अपने एक लेख मे इस प्रकार का विचार व्यक्त किया है, किन्तु उन्होने अपने को बौद्ध त्रिपिटक साहित्य तक ही सीमित रखा है। प्रस्तुत आलेख मे शुब्रिग और उपासक के इन प्रत्यनो को तुलनात्मक एव समीक्षात्मक विवरण के आधार पर प्रामाणिकता से आगे बढाना का प्रयास किया गया है। अत ऋषिभाषित के एक-एक ऋषि को लेकर उनके सम्वन्ध मे अधिक गम्भीरता से विचार करना होगा।

१. देव नारद

ऋषिभाषित का प्रथम अध्याय अर्हत् ऋषि देव नारद से सम्बन्धित है। नारद के सम्वन्ध मे उल्लेख हमे जैन, वौद्ध और हिन्दू तीनो ही परम्पराओ मे मिलते हैं। जैन परम्परा मे नारद का उल्लेख ऋषिभाषित[४०] के अतिरिक्त सम-

४०. ऋषिभाषित—प्रथम अध्ययन

वायाग[४१], ज्ञाताधर्मकथा[४२], औपपातिक[४३], ऋषिमण्डल[४४], और आवश्यकचूर्णि[४५] मे भी उपलब्ध है। समवायाग मे यह कहा गया है कि नारद का जीव आगामी उत्सर्पिणी काल मे विमल नामक इक्कीसवाँ तीर्थंकर होगा। इस प्रकार ऋषिभाषित और समवायाग दोनो मे नारद को सम्मानित रूप मे प्रस्तुत किया गया है। समवायाग मे प्रकारान्तर से एव ऋषिभाषित की टीका मे उन्हे स्पष्ट रूप से प्रत्येक-बुद्ध कहा गया है। किन्तु, हमे स्मरण रखना होगा कि अर्हत्ऋषि, प्रत्येकबुद्ध और भावी तीर्थंकर की अवधारणाओ मे अन्तर है। जैन परम्परा के अनुसार अर्हत् एव प्रत्येकबुद्ध उसी भव मे मुक्ति प्राप्त कर लेते है, जबकि भावी तीर्थंकर आगामी तीसरे भव मे मुक्ति प्राप्त करता है। अत जैन परम्परा के अनुसार अर्हत् एव प्रत्येकबुद्ध के भावी तीर्थंकर होने का प्रश्न ही नही उठता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येकबुद्ध और भावी तीर्थंकर की अवधारणाये ऋषिभाषित की रचना के पश्चात् ही विकसित हुई हैं। यद्यपि दोनो ही अवधारणाये एक दृष्टि से व्यक्ति को सम्मानित रूप से देखने का प्रयत्न तो है, फिर भी जहाँ प्रत्येकबुद्ध को जैन परम्परा से असम्पृक्त रखा गया वहाँ भावी तीर्थंकर को जैन परम्परा मे स्थान दिया गया है। असम्पृक्त रखने की इसी प्रक्रिया मे ऋषिभाषित के ऋषियो को प्रत्येकबुद्ध कह दिया गया, , किन्तु उनमे से कुछ को परम्परा से सम्बन्धित करने के लिए भावी तीर्थंकर के रूप मे भी मान्य कर लिया गया।

ऋषिभाषित के देव नारद को ज्ञाताधर्मकथा और इसिमण्डल (ऋषिमण्डल) में कल्छुल नारद कहा गया है, फिर भी दोनो एक ही व्यक्ति हैं। क्योकि, ऋषिभाषित की सग्रहणी गाथा इन्हे अरिष्टनेमि के काल मे होने वाला प्रत्येकबुद्ध कहा गया है। ज्ञाताधर्मकथा के नारद भी कृष्ण और अरिष्टनेमि के समकालिक ही है। ज्ञाताधर्मकथा मे इन्हे एक ओर भद्र और विविध विद्याओ का ज्ञाता कहा गया है, किन्तु दूसरी ओर कलुष हृदय एव कलहप्रिय भी कहा है। औपपातिक मे ब्राह्मण परिव्राजको के रूप मे नारद का उल्लेख हुआ है। औप-पातिक और ज्ञाताधर्मकथा, दोनो ही उन्हे चारो वेद और अनेक विद्याओ के ज्ञाता एव शौचधर्म के प्रवर्तक मानते है। ऋषिभाषित मे भी इनके उपदेश मे शौचधर्म की प्रधानता है, फिर भी यहाँ ये आन्तरिक पवित्रता का उपदेश देते है, बाह्य पवित्रता का नही। आवश्यक चूर्णि मे भी नारद का जो उल्लेख उपलब्ध है उसमे उन्हे शौरीपुर निवासी ब्राह्मण यज्ञदत्त और सोमयशा का पुत्र कहा गया है।

---

४१ समवायाग सूत्र प्रकीर्णसमवाय २५२/३, जैनविश्वभारती (लाडनू)

४२ ज्ञाताधर्मकथा—अध्ययन १६/१३९-१४२

४३ औपपातिक सूत्र ३८

४४ ऋषिमण्डल वृत्ति पूर्वार्द्ध गाथा ३५

४५ आवश्यकचूर्णि भाग २, पृष्ठ १९४ (ऋषभदेव केशरीमल, रतलाम १९२८)

ऋषिमण्डल मे भी नारद का उल्लेख है । उसमे उन्हे 'सत्य ही शौच है' नामक प्रथम अध्ययन का प्रवक्ता कहा गया है । इससे ऐसा लगता है कि ऋषिमण्डलकार ने इस तथ्य को ऋषिभाषित से ही लिया है । इस समग्र विवरण से ऐसा लगता है कि ऋषिभाषित, समवायाग, ज्ञाताधर्मकथा, औपपातिक और ऋषिमण्डल मे उल्लिखित नारद भिन्न-भिन्न व्यक्ति नही है बल्कि एक ही व्यक्ति है। इतना निश्चित है कि ऋषिभाषित एव समवायाग मे उन्हे अर्हत् ऋषि और भावी तीर्थंकर के रूप मे जो सम्मानपूर्ण स्थिति प्राप्त है वह परवर्ती आगमिक और अन्य जैन साहित्य मे उपलब्ध नही है । यह तथ्य ऋषिभाषित के साम्प्रदायिक अभिनिवेश से पूर्णतया मुक्त होने का प्रमाण भी है ।

जहाँ तक ऋषिभाषित मे उल्लिखित नारद के उपदेश का प्रश्न है उसमे जैन परम्परा मे स्वीकृत ५ महाव्रतो को ही ४ शौचो मे विभाजित कर उन्हे उनका प्रवक्ता कहा गया है । इसमे ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक ही वर्ग मे दिखाया गया है । साथ ही ऋषिभाषित और अन्य जैन आगमो मे उन्हे शौच धर्म का प्रतिपादक भी माना गया है । यद्यपि हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि जहाँ अन्य जैन आगमो मे उन्हे बाह्य शौच अर्थात् शरीर-शुद्धि पर बल देने वाला कहते हैं, वहाँ ऋषिभाषित मे उन्हे सद्गुणो के धारणरूप आन्तरिक पवित्रता का प्रतिपादक कहलाया गया है ।

ऋषिभाषित के प्रथम अध्ययन मे अर्हत् ऋषि देव नारद ने शौच को श्रोतव्य एव सर्व दुखो से मुक्ति का आधार बताते हुए निम्न चार प्रकार के शौच लक्षणो का उल्लेख किया है ।

१—प्राणातिपात (हिंसा) से विरति

२—मृषावाद से विरति

३—अदत्तादान से विरति

४—अब्रह्मचर्य और परिग्रह से विरति

इसके साथ ही इस अध्याय मे सर्वथा निर्ममत्व भाव रखने का निर्देश भी दिया गया है तथा यह कहा गया है कि साधक को सभी स्थितियो मे समभाव रखना चाहिए । जो साधक शौच का पालन करता है, ममत्वभाव से रहित है और समभाव का आचरण करता है वह शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त करता है। उसका पुनरागमन नही होता है ।

शुब्रिग की मान्यता है कि ग्रन्थ प्रणेता पर पार्श्व के चातुर्याम का प्रभाव स्पष्ट है, यही कारण है कि इसमे ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक ही वर्ग मे वर्गीकृत किया गया है । अहिसा, सत्य आदि को शौच अर्थात् पवित्रता का आधार मानना

यह सूचित करता है कि नारद मात्र बाह्य पवित्रता के ही प्रतिपादक नही थे, अपितु वे आन्तरिक पवित्रता का भी प्रतिपादन करते थे। ऋषिभाषित मे नारद को निर्ममत्व, विरक्ति और विमुक्ति का प्रवक्ता भी कहा गया है। इस अध्याय के अन्त मे साधक को सत्यवादी, दत्तभोजी और ब्रह्मचारी होने का निर्देश दिया गया है। ये आचाराङ्ग मे उल्लेखित त्रियाम तो नही है ? यह विचारणीय है।

सामान्यतया अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह तथा आन्तरिक पवित्रता और निर्ममत्व की अवधारणाये भारतीय परम्परा की सर्वमान्य अवधारणा थी। अत हमे यह मानने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए कि ऋषि-भाषित मे उल्लेखित नारद का यह उपदेश उनका वास्तविक उपदेश रहा होगा।

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि नारद का व्यक्तित्व जैन परम्परा मे इतना प्रभावशाली रहा कि आगे चल कर नव बलदेवो और नव वासुदेवो की परिकल्पना के साथ नव नारदो की कल्पना भी कर ली गयी। औपपातिक मे नारदीय परिव्राजको की एक परम्परा का उल्लेख यह सूचित करता है कि नारद के अनुयायी परिव्राजको की एक स्वतन्त्र परम्परा थी।

बौद्ध परम्परा मे भी हमे अनेक नारदो का उल्लेख मिलता है। सर्वप्रथम चौवीस बुद्धो की अवधारणा मे नवे बुद्ध को नारद कहा गया है।[४६] इसके अतिरिक्त थेरगाथा की अट्ठकथा मे पद्मोत्तर बुद्ध के समकालीन नारद नामक एक ब्राह्मण का भी उल्लेख मिलता है।[४७] इसी प्रकार थेरगाथा की अट्ठकथा मे अर्थदर्शी बुद्ध के समकालीन एक अन्य नारद नामक ब्राह्मण का भी उल्लेख है।[४८] साथ ही बौद्ध साहित्य मे वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त के मत्री का नाम भी नारद बताया गया है।[४९] मिथिला के एक राजा का नाम भी नारद मिलता है,[५०] किन्तु हमारी दृष्टि मे इन सभी नारदो का ऋषिभाषित के नारद से कोई सम्बन्ध नही है। बौद्ध साहित्य मे एक काश्यपगोत्रीय नारद का उल्लेख मिलता है।[५१] इनका उल्लेख ब्राह्मण ऋषि नारद देव के रूप मे भी हुआ है। कही इन्हे नारद देवल भी कहा गया हैं। किन्तु, हमे ऐसा लगता है कि नारद और देवल एक व्यक्ति न होकर अलग-अलग व्यक्ति हैं। महाभारत मे नारद और असित देवल के सवाद का उल्लेख है। अत यह माना जा सकता है कि नारद और असित देवल समकालीन रहे

---

४६ बुद्धवश अट्ठकथा १०/६

४७ थेरगाथा अट्ठकथा भाग १ पृष्ठ २६८

४८. वही, पृष्ठ २६९

४९ जातक कथा तृतीयभाग (सर्वजातक वर्ग पृष्ठ न ३०६)

५० वही, भाग चतुर्थ पृष्ठ ५६७

५१ वही, भाग पचम पृष्ठ ४७६

होगे। हमारी दृष्टि मे बौद्ध साहित्य मे उल्लेखित नारद देव और ऋषिभाषित के देव नारद एक ही व्यक्ति रहे होगे।

वैदिक एव हिन्दू परम्परा मे देवऋषि नारद के उल्लेख व्यापक रूप से मिलते है। ऋग्वेद[५२] के कुछ सूक्तो के रचयिता पर्वत नारद और अथर्ववेद [५३] के कुछ सूक्तो के रचयिता कण्व नारद माने गये है। इसी प्रकार सामवेद[५४] की परम्परा मे भी नारद का उल्लेख आता है। छादोग्य उपनिषद् मे नारद को विभिन्न विद्याओ का ज्ञाता कहा गया है।[५५] इसी उपनिषद् मे नारद और सनत्कुमार के सवाद का उल्लेख उपलब्ध होता है। छादोग्य उपनिषद् के समान जैन आगम ज्ञाता-धर्मकथा और औपपातिक मे इन्हे चारो वेद और विभिन्न विद्याओं मे निष्णात कहा गया है। छादोग्य उपनिषद् मे नारद कहते है कि मै विविध विद्याओ का ज्ञाता होते हुए भी मन्त्रविद् हूँ, आत्मविद् नही। इससे ऐसा लगता है कि प्रथमत. नारद बाह्य कर्मकाण्ड, शौच तथा विविध लौकिक एव चमत्कारी विद्याओ की साधना मे तत्पर रहे होगे, किन्तु आगे चलकर उनकी अध्यात्म मे रुचि जागृत हुई होगी। परिणामत वे वैदिक परम्परा से श्रमण परम्परा की ओर आकृष्ट हुए होगें, फलतः श्रमण परम्परा मे भी उन्हे आदरपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। छादोग्य उपनिषद् के नारद-सनत्कुमार सवाद से इसकी पुष्टि होती है। छादोग्य उपनिषद् के अतिरिक्त नारद के उल्लेख नारदपरिव्राजकोपनिषद्[५६] एव नारदोपनिषद्[५७] आदि अनेक उपनिषदो मे मिलता है। गीता[५८] मे नारद को दिव्यविभूतियो मे माना गया है। महाभारत[५९] मे नारद और असित देवल के सवाद की सूचना भी उपलब्ध होती है। वहाँ इन्हे पर्वत का मामा भी बताया गया है। भागवत[६०] मे भी नारद के उल्लेख प्राप्त हैं। भागवत की अवतारो की एक सूची मे इन्हे ऋषियो की सृष्टि मे होने वाला विष्णु का तीसरा अवतार भी कहा गया है। जहाँ हिन्दू परम्परा नारद को विष्णु का अवतार कहती है, वहाँ बौद्ध परम्परा इन्हे गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती एक बुद्ध के रूप मे स्वीकार करती है, जबकि जैन परम्परा मे इन्हे भावी तीर्थङ्कर कहा गया है। यदि हम तीनो परम्परा मे उपलब्ध नारद सम्बन्धी विवरणों को देखे तो प्रथम तो

---

५२ ऋग्वेद

५३ अथर्ववेद

५४ सामवेद

५५ छान्दोग्योपनिषद् ७/१/१

५६ नारदपरिव्राजकोपनिषद् २, ६, १४, १५, ३३, ३७,

५७ नारदोपनिषद् ६

५८ देवर्षि नारदस्तथा—गीता १०/१३ तथा १०/२६

५९ शान्तिपर्व २७५/३ (गीता प्रेस)

६० भागवत १/३/८, १/५/३८, ३९

यह लगता है कि वस्तुत नारदो की कोई एक परम्परा रही है। जैन आगम औपपातिक सूत्र से यह ज्ञात होता है कि नारदीय परिव्राजको की एक विशिष्ट परम्परा अनेक शताब्दियो तक चलती रही है। नारदो की इस परम्परा मे ही ऋषिभाषित के देव नारद भी एक माने जा सकते है जो निश्चितरूप से बुद्ध, महावीर और पार्श्व के पूर्व अरिष्टनेमि के काल मे हुए होगे।

प्रस्तुत अध्याय मे जैन परम्परा मे स्वीकृत पाँच महाव्रतो को ही चार शौचो मे विभाजित किया गया है। इसमे विशेषता यह है कि ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक ही मे वर्गीकृत किया गया है। इससे ऐसा लगता है कि ग्रन्थप्रणेता पर पार्श्वापत्य परम्परा के चातुर्याम की अवधारणा का प्रभाव है, क्योकि पार्श्व के चातुर्याम मे भी ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक ही वर्ग मे वर्गीकृत किया गया है।

२. वज्जीपुत्त (वात्सीपुत्र)

जैन परम्परा मे वज्जीपुत्त का उल्लेख केवल ऋषिभाषित मे पाया जाता है।[६१] किन्तु, बौद्ध परम्परा मे वज्जियपुत्त थेर का उल्लेख हमे अनेक स्थानो पर मिलता है।[६२] शुब्रिग और उपासक दोनो वज्जीपुत्त को बौद्ध परम्परा से सम्बद्ध करते है।[६३] बौद्ध परम्परा मे वज्जीपुत्तको का एक सम्प्रदाय ही था जो कुछ बातो मे सामान्य बौद्ध भिक्षुओ से मत-वैभिन्य रखता था। यद्यपि प्रो० सी० एस० उपासक ने ऋषिभाषित के वज्जीपुत्त को बौद्ध परम्परा से सम्बद्ध मानने में एक शका उपस्थित की है। उनके मतानुसार वज्जीपुत्त का सम्प्रदाय इस ऋषिभाषित ग्रन्थ की रचना की अपेक्षा कुछ परवर्त्ती है। वस्तुत बौद्ध परम्परा मे जिस वज्जिपुत्तीय सम्प्रदाय का उल्लेख है, वह ईसा पूर्व चौथी-पाँचवी शताब्दी मे ही अस्तित्व मे आ गया था, अत' उनकी यह आशका समुचित प्रतीत नही होती है। फिर वज्जीपुत्त तो बुद्ध के समकालीन ही है।

पुन बौद्ध सघ मे वज्जिपुत्तीय सम्प्रदाय का आविर्भाव इस बात का भी सूचक है कि वज्जीपुत्त बौद्ध परम्परा मे एक प्रभावशाली आचार्य रहे होगे। और, इनकी शिष्य सम्पदा भी विपुल रही होगी तभी इनके नाम पर सम्प्रदाय बना। बौद्ध साहित्य से हमे यह भी ज्ञात होता है कि वज्जीपुत्त बुद्ध और महावीर के समकालीन थे। थेरगाथा अट्ठकथा मे इन्हे वैशाली के निवासी लिच्छवि राजकुमार कहा गया है तथा यह बताया गया है कि बुद्ध से ये इतने प्रभावित हुए कि बौद्ध परम्परा मे

---

६१ इसिभासियाइ अध्ययन २

६२ थेरगाथा अट्ठकथा भाग १ पृ० २०६, ३४८

६३ इसिभासियाइ Introduction page-4
[L D Institute of Indology, Ahmedabad 1974]

दीक्षित होकर वैशाली के जगलो मे अपनी साधना प्रारम्भ कर दी। जैन परम्परा मे विशेषरूप से ऋषिभाषित मे उन्हे स्थान देने का कारण यह भी हो सकता है कि ये भी महावीर की वश परम्परा अर्थात् लिच्छवि वश से सम्बन्धित थे।

बौद्ध परम्परा मे वज्जिपुत्तीय श्रमण सुविधावादी माने गये है। इन्होने बौद्ध सघ मे कुछ सुविधाओ की माग की थी यथा—भोजन के पश्चात् अल्पाहार करना, शृग मे नमक रखना, भिक्षा के लिये दो बार भी चले जाना, स्वर्ण-रजत मुद्राये रखना आदि। वज्जिपुत्तीय सम्प्रदाय के कुछ उपनिकायो का भी उल्लेख बौद्ध साहित्य एव अभिलेखो से प्राप्त होता है। उपनिकाय निम्न है—

१ धर्मोत्तरीय निकाय—इसका उस समय पर्याप्त प्रचार-प्रसार था, किन्तु इनके सिद्धान्तो की हमे कोई जानकारी नही है।

२ भद्रयानिक निकाय—इस सम्बन्ध मे महावश, दीपवश आदि ग्रन्थो मे विस्तृत उल्लेख मिलते हैं।

३ छन्नागारिक निकाय—इसका अर्थ है जो भिक्षु छन्न=छाये हुए, आगारिक=आवास मे रहने वाले अर्थात् वृक्ष, मूल, गुफा आदि स्थानो को छोडकर सघारामो मे रहकर साधना करते थे, वे छन्नागारिक कहलाते थे।

ऋषिभाषित मे उल्लिखित वज्जीपुत्त बौद्ध परम्परा मे उल्लिखित वज्जीपुत्त हैं। वे लिच्छवि वश से सम्बन्धित तथा बुद्ध और महावीर के समकालीन थे तथा बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् भी जीवित थे। पुन ऋषिभाषित मे जो इनका उपदेश है, उसकी बौद्ध धर्म दर्शन से कही भी असगति नही है।

जहा तक वज्जियपुत्त के उपदेशो का प्रश्न है ऋषिभाषित मे इनका उपदेश मुख्य रूप से कर्म-सिद्धान्त को स्पष्ट करता है। ये कहते है कि बीज और अकुर की भाति जन्म-मरण और दु ख की परम्परा भी चलती रही है। कर्म के मूल स्रोत के रूप मे इसमे मोह को बताया गया है। कर्म सम्बन्धी यह विचार धारा जैन और बौद्ध परम्पराओ मे सामान्य रूप से स्वीकृत है। वज्जीपुत्त के इन उपदेशो की समरूपता हमे उत्तराध्ययन के तीसवें अध्याय मे भी मिलती है। इस अध्याय मे प्रस्तुत विचारो की प्रामाणिकता का आधार यह है कि इसमे कर्म-सन्तति की चर्चा है जो बौद्ध परम्परा के सन्ततिवाद के प्रभाव को सूचित करती है। इस अध्याय को देखने से यह भी स्पष्ट होता है कि वज्जीपुत्त आचरण की अपेक्षा ज्ञान पर अधिक बल देते हैं। बौद्ध परम्परा मे वज्जिपुत्तीय (वात्सीपुत्रीय) सम्प्रदाय भी मुख्य रूप से आचरण के रूढ नियमो के विरुद्ध ज्ञानमार्ग और चित्तशुद्धि पर बल देता है।

मेरी दृष्टि मे यह निर्विवाद सत्य है कि ऋषिभाषित के वज्जियपुत्त अन्य कोई नही बौद्ध परम्परा के वज्जीपुत्त थेर ही है।

वैदिक परम्परा मे वात्सीपुत्र का उल्लेख है जो कि प्राकृत वज्जीपुत्त का ही सस्कृत रूप है। वृहदारण्यक उपनिषद् की अन्तिम वश-सूची मे वात्सीपुत्र का नाम प्राप्त होता है। काण्व शाखा के अनुसार ये पाराशरीपुत्र के शिष्य और माध्यदिन शाखा के अनुसार ये माण्डवी पुत्र के शिष्य है।

वैदिक परम्परा मे इनके नामोल्लेख के अतिरिक्त अन्य विशेष विवरण उपलब्ध नही होता है, किन्तु इस आधार पर इतना अवश्य ज्ञात होता है कि ये औपनिषदिक काल के कोई ऋषि हैं। इस सदर्भ मे स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या ऋषिभाषित के वज्जीपुत्त, बौद्ध परम्परा के वज्जीपुत्त और बृहदारण्यक उपनिषद् के वात्सीपुत्र ये तीनो एक ही व्यक्ति हैं अथवा भिन्न व्यक्ति है? चूकि वैदिक परम्परा मे वात्सीपुत्र का दर्शन या चिन्तन अनुपलब्ध है, अत. इनकी ऋषिभाषित के वज्जियपुत्त के साथ एकरूपता स्थापित करना कठिन है। जब कि चिन्तन-साम्यता की दृष्टि से विचार करने पर बौद्ध परम्परा के वज्जीपुत्त की ऋषिभाषित के वज्जीपुत्त से अधिक निकटता सिद्ध होती है। पुन बौद्ध परम्परा मे वज्जिपुत्तियो का सम्प्रदाय होना भी यही सिद्ध करता है कि ये मूलत बौद्ध परम्परा के ही रहे होगे। किन्तु, अभी यह प्रश्न अनुत्तरित ही रहता है कि बृहदारण्यक उपनिषद के वात्सीपुत्र कौन थे? चूंकि उपनिषदो मे अन्य किसी बौद्ध परम्परा के भिक्षु का नामोल्लेख नही है अत. बृहदारण्यक के वात्सीपुत्र और बौद्ध परम्परा के वज्जीपुत्त एक ही व्यक्ति रहे होगे यह कहना कठिन ही है। यदि ये बौद्ध परम्परा मे उल्लेखित सामान्य थेर होते तो यह सम्भावना हो सकती थी कि बौद्धो ने नारद आदि की भाति इन्हे भी अपनी परम्परा मे स्थान दे दिया होगा, किन्तु बौद्ध सघ मे इनकी स्थिति सम्प्रदाय के नेता के रूप मे है। फिर भी यह सम्भावना हो सकती है कि ये पूर्व मे औपनिषदिक ऋषियो की परम्परा से जुडे हो किन्तु बाद मे बुद्ध से प्रभावित होकर बौद्ध परम्परा से जुड गये हो। क्योकि, बौद्ध परम्परा मे इनका अरण्यवासी होकर रहना किसी भिन्न तथ्य का ही सूचक है। पुन बौद्ध सघ मे सर्व प्रथम इनकी शिष्य परम्परा का विरोध मे उठ खडा होना भी यही सूचित करता है कि इनकी परम्परा के सस्कार कुछ भिन्न ही थे। वैसे औपनिषदिक ऋषि परम्परा मे इनके नामोल्लेख के अतिरिक्त अन्य कुछ सूचना नही मिलना भी यही सूचित करता है कि ये बाद मे किसी अन्य धारा से जुड गये होगे।

३. असित देवल

असित देवल का उल्लेख हमे भारतीय चिन्तन की वैदिक, जैन एव बौद्ध तीनो धाराओ मे उपलब्ध होता है। देवल का धर्मसूत्र भी प्राचीन काल मे प्रचलित था, जिसके अनेक उद्धरण हमे परवर्ती काल के ग्रन्थो मे आज भी उपलब्ध होते है। इस आधार पर इतना तो सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि असित देवल मात्र पौराणिक पुरुष न होकर एक ऐतिहासिक व्यक्ति रहे होगे।

जैन परम्परा मे असित देवल का उल्लेख ऋषिभापित[६४] और सूत्रकृताग[६५] मे उपलब्ध होता है। ऋषिभाषित मे उन्हे 'अर्हत् ऋषि' कहा गया है। उनका जो उपदेश ऋषिभाषित मे सकलित है वह हमारे सामने निम्न तथ्यो को प्रस्तुत करता है। सर्वप्रथम व्यक्ति को चतुर्गति रूप ससार से निवृत्त होकर अतुल, अवाध, शाश्वत स्थान अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। यह मुक्ति कैसे प्राप्त होती है ? इसकी चर्चा करते हुए बताया गया है कि सर्वकामनाओ, सर्व-आसक्तियो, सर्वराग और सर्वक्रिया-कलापो से तथा क्रोध, मान, माया और लोभ से विरत होकर तथा सब प्रकार से सवृत्त, उपरत, सयमी और प्रतिबुद्ध होकर ससार के सभी लेपो से अर्थात् वन्धन-कारक कर्मो से बचा जा सकता है तथा मुक्ति को प्राप्त किया जा सकता है। इसके वाद ग्यारह गाथाओ मे यह बताया गया है कि किन-किन कर्मो को करने से प्राणी पाप कर्मो मे लिप्त होता है। अन्त मे यह कहा गया है कि सामान्य अग्नि को तो जल के द्वारा बुझाया जा सकता है किन्तु मोह-अग्नि दुर्निवार है। जो इस तथ्य को समझ लेता है वही जन्म-मरण को समाप्त कर सिद्धि को प्राप्त करता है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि असित देवल निवृत्ति-मार्ग के उपदेशक थे। उनके नाम के साथ लगे हुए अर्हत् ऋषि विशेषण से भी यह वात पुष्ट होती है। सूत्रकृताग मे जो असित देवल को बीज वनस्पति एव सचित्त जल का उपभोग करते हुए सिद्धि को प्राप्त करने वाला कहा गया है, इससे यह सिद्ध होता है कि ये मूलत निर्ग्रन्थ परम्परा से सम्वद्ध नही थे, किन्तु फिर भी इन्हे इस परम्परा मे पूर्व मे सम्मानपूर्वक स्थान प्राप्त था, क्योकि निर्ग्रन्थ परम्परा के भिक्षु इनके और इसी प्रकार से नमि आदि अन्य ऋषियो के उदाहरण देकर ही सुविधावादी प्रवृत्तियो का समर्थन कर रहे थे।

सूत्रकृताग के टीकाकार शीलाक ने 'असिते दविले' पाठ के आधार पर असित और देवल ऐसे दो व्यक्तिओ की कल्पना कर ली, किन्तु ऋषिभाषित के आधार पर ही यह सिद्ध हो जाता है कि असित देवल दो व्यक्ति नही है, अपितु एक ही व्यक्ति है। इसिमण्डल[६६] मे इन्हे काम-वासना से निवृत्त होने वाला बताया गया है। ऋषिमण्डल वृत्ति जो लगभग १३-१४वी शदी की रचना है—इनका पूरा जीवन दिया गया है। उसमे कहा गया है कि ये अपनी पुत्री अर्धशकासा के प्रति ही कामासक्त हो गये, किन्तु प्रवुद्ध हो वे वासना-निवृत्त हो गये। इससे यह भी सिद्ध होता है कि ये मूलत. तापस परम्परा से ही सम्बन्धित थे।

---

६४ ऋपिभाषित अध्ययन ३

६५ सूत्रकृताङ्ग १।१।३।४-३

६६ भविअव्व खलु भो मव्व-कामविरएण एअमजझयण।
मासित्तु देवलाखुअ—रार्यारसी सिवय पत्तो ॥

—ऋषिमण्डल गाथा १२४

बौद्ध त्रिपिटक साहित्य मे भी असित देवल का उल्लेख एक ऋषि के रूप मे हुआ है। मज्झिमनिकाय का आसलायन सुत्त[६७] उनके सम्बन्ध मे हमे कुछ विवरण देता है। उसमे कथा यह है कि एक समय सात ब्राह्मण विद्वान जगल मे निवास कर रहे थे। उनकी अवधारणा यह थी कि ब्राह्मण ही सर्वोच्च जाति है और वही ब्रह्मा के वास्तविक पुत्र है। असित देवल ने जब इस बात का विरोध किया तब ब्राह्मणो ने उसे शाप दिया, किन्तु ब्राह्मणो का शाप असित देवल को प्रभावित नही कर सका। अन्त मे ब्राह्मणो ने अपनी तपस्या को निरर्थक जानकर असित देवल से अपने प्रश्नो का समाधान चाहा। असित ने उनके प्रश्नो का समाधान किया और अन्त मे वे ब्राह्मण असित के अनुयायी हो गये।

बुद्धघोष ने महावस मे अमित देवल का उल्लेख बोधिसत्त्व के रूप मे किया है (महावश II 785)। इसके अतिरिक्त इन्द्रियजातक[६८] मे भी देवल का काल-देवल के रूप मे उल्लेख है। इस जातक कथा मे नारद को असित देवल का छोटा भाई बताया गया है तथा उनके द्वारा उसे उपदेशित किये जाने का भी उल्लेख है। इस प्रकार बौद्ध परम्परा मे भी असित देवल एक सन्यासी के रूप मे हमारे सामने आते है और वे अपने लघु भ्राता नारद को भी ससार के प्रेम-पाश से मुक्त कराने का प्रयत्न करते है।

हिन्दू परम्परा मे हम महाभारत और गीता मे असित देवल के उल्लेख पाते है। महाभारत के आदिपर्व[६९], सभापर्व[७०], शल्यपर्व[७१], शान्तिपर्व[७२] और अनुशासनपर्व[७३] मे असित देवल का उल्लेख हुआ है। शल्यपर्व मे असित देवल को प्रारम्भ मे गृहस्थ धर्म का आश्रय लेकर साधना करने वाला बताया गया है। जैन स्रोतो से भी इसकी पुष्टि होती है। उसमे यह भी बताया गया है कि असित देवल समभाव से युक्त तथा महातपस्वी थे। इस अध्याय मे असित देवल और जेगीशव्य की चर्चा का भी उल्लेख है। इस अध्याय मे एक बात जो सबसे महत्वपूर्ण है, वह यह है कि वे जेगीशव्य के उपदेश से प्रभावित होकर गृहस्थ धर्म का त्याग कर मोक्ष-धर्म अर्थात् सँन्यास धर्म का पालन करने लगे।

शान्तिपर्व मे भी जेगीशव्य और असित देवल को समत्व बुद्धि का उपदेश देते हुए प्रस्तुत किया गया है। इन तथ्यो से इतना तो अवश्य स्पष्ट है कि असित

---

६७ मज्झिमनिकाय खण्ड २ पृष्ठ १५४ (पालि टेक्स्ट सोसाइटी)

६८ इन्द्रियजातक, पृष्ठ ४६३ (गीता प्रेस सस्करण)

६९ आदि पर्व १/१०७, ५३/८, वही

७० सभापर्व ५३/१०, ७८/१५, वही

७१ शल्यपर्व ५०, वही

७2 शान्तिपर्व २२९/५, २७५/४–३६ वही

७३ अनुशासनपर्व १८/१७–१८ वही

देवल प्रारम्भ मे गृहस्थ-साधक के रूप मे तपस्यारत थे, परन्तु अन्त मे उन्होने सन्यास मार्ग को ग्रहण कर समत्व-बुद्धि की साधना की । शान्तिपर्व के ही एक अन्य अध्याय (२७५) मे नारद और असित देवल का सवाद है । प्रस्तुत अध्याय मे देवल पचमहाभूत, काल, भाव और अभाव इन आठ नित्य तत्त्व की स्थापना करते है और इनसे ही जगत की उत्पत्ति बताते है । इसी अध्याय मे उन्होने नारद को इन्द्रियो के सयम का भी उपदेश दिया है । इससे ऐसा लगता है कि बौद्ध परम्परा मे असित देवल और नारद को सम्बन्धित करने का जो प्रयत्न है, उसमे आशिक सत्यता तो अवश्य है ।

इसके अतिरिक्त गीता[७४],माठरवृत्ति[७५], ब्रह्मसूत्र भाष्य और याज्ञवल्क्य स्मृति की अपरादित्य टीका मे भी देवल के उल्लेख है । यद्यपि महाभारत मे कही-कही देवल को एक पौराणिक पुरुष के रूप मे प्रस्तुत किया गया है, परन्तु तीनो परम्पराओ मे उनके उल्लेख होने से इतना तो निश्चित होता है कि देवल एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे । यद्यपि यह प्रश्न अभी अवशेष रहता है कि यह कितने प्राचीन ऋषि है । इस सन्दर्भ मे दो-तीन बाते विचारणीय हैं । महाभारत मे तथा गीता मे इन्हे नारद का समकालीन प्रस्तुत किया गया है । बौद्ध परम्परा की जातक कथा मे भी इन्हे नारद को उपदेश देने वाला कहा गया है । ऋषिभाषित मे देव नारद और वज्जियपुत्त के बाद असित देवल का अध्याय आता है । इन सबसे यह अवश्य सिद्ध होता है कि असित देवल भी महाभारत काल के ऋषि है । जातक कथा मे इन्हे गौतम बुद्ध के काल मे अन्य जन्म ग्रहण करने वाला बताया गया है, जो इनकी गौतम बुद्ध से प्राचीनता को सिद्ध करता है । यद्यपि इन सब आधारो पर इनका निश्चित समय बता पाना कठिन है, पर इतना अवश्य है कि ये बुद्ध एव महावीर के पूर्ववर्ती तथा महाभारत काल के समवर्ती ऋषि रहे होगे जिन्हे पर्याप्त समय तक लोकप्रियता प्राप्त होती रही और सम्भवत उनकी अपनी कोई परम्परा भी चलती रही । अन्यथा जैन एव बौद्ध ग्रन्थो मे इनका जो उल्लेख उपलब्ध है, वह हमे नही प्राप्त होता ।

४. अंगिरस भारद्वाज

ऋषिभाषित के चतुर्थ अध्याय मे अगिरस भारद्वाज के उपदेश सकलित हैं । ऋषिभाषित के अतिरिक्त अगिरस का उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति,[७६] आवश्यक

---

७४ गीता (गोरखपुर सस्करण) १०/१३

७५ माठरवृत्ति ७१ देखे—सांख्यदर्शन और विज्ञान भिक्षु—डॉ० उर्मिला चतुर्वेदी पृष्ठ २५

७६ आवश्यक निर्युक्ति गाथा १२८८ (विजयदानसूरि जैन सिरीज सूरत)

भाष्य[७७], आवश्यक चूर्णि[७८] और ऋषिमण्डल[७९] (इसिमण्डल) मे भी मिलता है। वहाँ इन्हे कौशिक नामक उपाध्याय का तापस शिष्य कहा गया है। अन्य अध्यायो की अपेक्षा ऋषिभाषित का यह अध्याय पर्याप्त विस्तृत है। इसमे गद्य भाग के अतिरिक्त २४ गाथाये भी है। इस अध्याय मे सर्वप्रथम मनुष्य के छद्मपूर्ण जीवन का चित्रण है। इसमे कहा गया है कि मनुष्य-हृदय को जान पाना अत्यन्त कठिन है, क्योकि उसके मन के भीतर अन्य बाते होती है, वह अन्य रूप से कर्म करता है और अन्य रूप से भाषण करता है। साथ ही इसमे यह भी बताया गया है कि अपने अच्छे और बुरे का ज्ञाता स्वय ही है। जो व्यक्ति अपनी मनोवृत्तियो का निरीक्षण करता है उसके पाप कर्म निरुद्ध हो जाते है। अन्तर और बाह्य के द्वैत की समीक्षा करते हुए यह कहा गया है कि अनेक बार व्यक्ति आन्तरिक रूप से कल्याण का या शुभ का कर्ता होता है जबकि वह बाहर से पाप करने वाला दिखाई देता है। इसके विपरीत अनेक बार पापी र्व्यक्ति भी बाहर से शीलवान जैसा आचरण करने वाला देखा जाता है। अनेक स्थितियो मे लोग चोर की प्रशसा करते है और मुनि की निन्दा करते हैं। केवल बाह्य कार्यों को देखकर शब्दो मे किसी व्यक्ति को चोर या साधु कहने मात्र से वह चोर या साधु नही होता। वस्तुत यह तो व्यक्ति स्वय ही जानता है कि वह अच्छा है या बुरा। इस प्रकार इस सम्पूर्ण अध्ययन मे मुख्य रूप से अन्तर और बाह्य की द्विविधा का चित्रण उपलब्ध है। मनुष्य मे यह अन्दर और बाहर का द्वैत ऐसा है कि उसे समझ पाना कठिन है। व्यक्ति की साधुता या दुरा-चारिता का आधार बाहर की प्रशसा या निन्दा नही, लेकिन अन्तर की मनोवृत्ति ही है।

बौद्ध परम्परा मे अगिरस भारद्वाज का उल्लेख अनेक बार एक वैदिक ऋषि के रूप मे हुआ है। मज्झिमनिकाय[८०] मे अगिरस भारद्वाज नाम के प्रत्येकबुद्ध का उल्लेख है। जातक ४/९९ मे ब्रह्मलोक को प्राप्त करने वाले जिन ११ सन्यासियो का उल्लेख है उनमे एक अगिरस भारद्वाज भी है। इसके अतिरिक्त सुत्तनिपात[८१] मे कृषि भारद्वाज, सुन्दरिक भारद्वाज का उल्लेख हैं, किन्तु भारद्वाज एक गोत्र है। गोत्र की समानता होने पर नाम की भिन्नता के कारण ये दोनो व्यक्ति अगिरस भारद्वाज से भिन्न माने जाने चाहिए। सुत्तनिपात के बासेट्ठ सुत्त मे भी वशिष्ठ और भारद्वाज के बीच इस प्रश्न को लेकर चर्चा उठती है कि व्यक्ति अपने शील और सदाचार के

---

७७ आवश्यक भाष्य पृष्ठ ७८२ (विजय दान सूरि जैन सिरीज, सूरत)

७८ आवश्यक चूर्णि भाग २ पृष्ठ ७९ व १९३

७९ ऋषिमण्डल गाथा १२३, द्रष्टव्य वृत्ति पृष्ठ १९० (जैन विद्याशाला दोसीवाडा पोल अहमदाबाद १९२५)

८० मज्झियनिकाय खण्ड २ पृष्ठ १९९, २०० (पालि टेक्स्ट सोसाइटी)

८१ सुत्तनिपात प्रथम खण्ड पृष्ठ १९६ (पा० टे० सो०)

आधार पर ब्राह्मण होता है या जन्म के आधार पर ? जब हम सुत्तनिपात के इस बासेट्ठ सुत्त मे हुई चर्चा की और ऋषिभाषित के अगिरस भारद्वाज के उपदेशो की तुलना करते है, तो एक सबसे महत्वपूर्ण बात परिलक्षित होती है, वह यह कि दोनो ही व्यक्ति की आन्तरिक पवित्रता को ही महत्वपूर्ण मानते प्रतीत होते है, जन्म या बाह्य आचरण को नही। इस प्रकार धर्म और साधना के क्षेत्र मे अन्तर और मनोभावो को प्रमुखता देने की बात दोनो मे ही प्रमुख रूप से पायी जाती है।

अगिरस के सम्बन्ध मे विस्तृत विवरण हमे थेरगाथा की अट्ठकथा[८२] मे मिलता है। सर्वप्रथम चूलपथक थेरगाथा मे अगिरस को आदित्य के समान तपस्वी बताया गया है। वेणिथेर गाथा मे उन्हे महामुनि कहा गया है तथा उनकी तुलना चन्द्रमा से की गयी है। बौद्ध परम्परा मे ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण बात यह मिली कि उसमे अगिरस की इस चर्चा के प्रसग मे चम्पानगर का उल्लेख आया है। जैन परम्परा मे इसिमण्डल वृत्ति एव आवश्यक चूर्णि मे इन्हे चम्पानगर के कौशिक उपाध्याय का शिष्य कहा गया है। सम्पूर्ण पालि साहित्य मे लगभग ७ अगिरसो का उल्लेख प्राप्त होता है। इन सात अगिरसो मे ऋषिभाषित के उल्लेखित अगिरस कौन है ? यह विचारणीय है। सुत्तनिपात मे जिन १० ऋषियो के साथ अगिरस का उल्लेख हुआ है सम्भवत वे ही ऋषिभाषित के अगिरस है। मेरी दृष्टि मे छान्दोग्य उपनिषद् के अगिरस और सुत्तनिपात के अगिरस तथा जैन परम्परा के ऋषिभाषित, आवश्यक निर्युक्ति और आवश्यक चूर्णि के अगिरस एक ही व्यक्ति है, जिनके कथानक को तीनो परम्पराओ ने अपने-अपने ढग से प्रस्तुत किया है। प० कैलाशचन्द्र जी ने जैन साहित्य के इतिहास की पूर्व पीठिका मे छान्दोग्य उपनिषद् के देवकी पुत्र कृष्ण के उपदेशक अगिरस को अरिष्टनेमि मानने का प्रयास किया है, किन्तु मेरी दृष्टि मे यह एक क्लिष्ट कल्पना ही है। इतना निश्चित सत्य है कि अगिरस, कृष्ण और अरिष्टनेमि के समकालीन तथा बुद्ध, महावीर और पार्श्व के पूर्ववर्ती श्रमण परम्परा के औपनिषदिक काल के ऋषि है।

वैदिक परम्परा मे अगिरस का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद[८३] मे प्राप्त होता है। उसके पश्चात् छान्दोग्य उपनिषद[८४] मे घोर अगिरस के नाम से इनका उल्लेख प्राप्त होता है। वहाँ इनको देवकी पुत्र कृष्ण का उपदेशक बताया गया है। छान्दोग्य के अतिरिक्त महाभारत मे अगिरा नामक ऋषि का उल्लेख मिलता है। इनके आठ पुत्रो मे एक पुत्र का नाम घोर था। इससे ऐसा लगता है कि छान्दोग्य के घोर अगिरस, महाभारत[८५] मे उल्लिखित अगिरा ऋषि के पुत्र घोर होगे। क्योकि, पुत्र

---

८२ थेरगाथा अट्ठकथा खण्ड १ पृष्ठ ५०३ (पाली टेक्स्ट सोसाइटी)

८३ ऋग्वेद १/४५/३, २/१३६/६, ३/११/७

८४ छान्दोग्य० १/२/१०

८५ आदिपर्व १२२/५१

के नाम के साथ पिता के नाम का उल्लेख भारत मे प्राचीनकाल से होता रहा है। पुन अगिरस यह नाम भी अगिरा के पुत्र का ही सूचक है।

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप मे हम यही कह सकते है कि ऋषिभाषित के अगिरस भारद्वाज, छान्दोग्य उपनिषद् के घोर अगिरस और सुत्तनिपात के अगिरस भारद्वाज एक ही व्यक्ति है, जो एक ऋषि के रूप मे सुविख्यात रहे हैं और तीनो ही परम्पराओ ने अपने-अपने ढग से इन्हे स्वीकार कर लिया है।

५. पुष्पशालपुत्र

ऋषिभाषित के पञ्चम अध्याय मे पुष्पशाल पुत्र के उपदेशो का सङ्कलन है। ऋषिभाषित [८६] के अतिरिक्त पुष्पशालपुत्र का उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति,[८७] विशेषावश्यक भाष्य,[८८] और आवश्यक चूर्णि[८९] मे भी मिलता है। आचाराग की शीलाक कृत टीका[९०] मे भी पुष्पशाल का उल्लेख आया है। आवश्यक चूर्णि मे भी पुष्पशाल के दो उल्लेख मिलते है। इसमे एक पुष्पशाल को गोबर ग्राम का और दूसरे को वसन्तपुर का निवासी बताया गया है। वसन्तपुर निवासी पुष्पशाल का ऋषिभाषित के पुष्पशालपुत्र से कोई सम्बन्ध नही है। उसे एक सगीतज्ञ बताया गया है, किन्तु गोबर ग्राम निवासी पुष्पशालपुत्र वही है जिनका उल्लेख ऋषिभाषित मे है। इस समानता का कारण यह भी है कि आवश्यक चूर्णि मे गोबर ग्राम निवासी पुष्पशालपुत्र को सेवा-धर्म प्रधान बताया गया है। ऋषिभाषित मे भी वे विनय को प्रधानता देते हुए प्रतीत होते हैं। अत दोनो एक हो सकते है। दोनो को एक मानने मे मात्र आपत्ति यह हो सकती है कि गोबर ग्राम वासी पुष्पशालपुत्र महावीर के समकालीन बताये गये है जबकि ऋषिभाषित की सग्रहणी गाथा मे उल्लिखित पुष्पशालपुत्र को अरिष्टनेमि के तीर्थ का बताती है। किन्तु, सग्रहणी गाथा काल-निर्णय के सन्दर्भ मे प्रामाणिक नही लगती, क्योकि उसमे मखलिपुत्र-गोशालक को भी अरिष्टनेमि के तीर्थ का बताया गया है। जबकि वे वस्तुत महावीर और बुद्ध के समकालीन है।

आवश्यक चूर्णि मे उपलब्ध विवरण और ऋषिभाषित मे उल्लिखित पुष्पशाल के उपदेशो के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे विनय

---

८६ ऋषिभाषित ५वा अध्ययन

८७ आवश्यक निर्युक्ति पृष्ठ ३९८ (आगमोदय समिति, वम्बई १९१६–१७)

८८ विशेषावश्यक भाष्य पृष्ठ ७८७ (ऋषभदेव केशरीमल, रतलाम १९३६)

८९ आवश्यकचूर्णि भाग १, पृष्ठ ५२९–३० (वही)

९०, आचाराग शीलाक वृत्ति पृष्ठ १५४ (आगमोदय समिति, वम्बई १९१६)

को प्रधानता देने वाले विचारक है। बुद्ध और महावीर के युग मे विनयवादियो की एक परम्परा थी। मेरी दृष्टि मे पुष्पशालपुत्र उसी से सम्बन्धित एक प्रभावशाली आचार्य रहे होगे। ऋषिभाषित मे उनके उपदेशो मे मुख्य रूप से प्राणातिपात, असत्य वचन, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह तथा क्रोध, मान आदि पाप-कर्मो से दूर होने का निर्देश मिलता है। वे कहते है कि क्रोध, मान आदि से रहित विनम्र आत्मा शास्त्रानुसार आचरण करता हुआ आत्मपर्यायो का ज्ञाता होता है, अर्थात् आत्म-साक्षात्कार करता है। इस प्रकार इनके चिन्तन मे पाप-निवृत्ति और विनम्रता ही प्रमुख प्रतीत होती है।

जैन परम्परा के अतिरिक्त बौद्ध परम्परा मे भी हमे पुष्पस्थविर (फुस्सथेर) का उल्लेख मिलता है। थेरगाथा की अट्ठकथा[६१] मे तथा अपदान मे इनके उपदेशो का विस्तार से विवरण दिया गया है। पालि साहित्य मे उपलब्ध इनके उपदेश मे मुख्य रूप से भविष्य मे होने वाले भिक्षु-भिक्षुणियो की पाप-प्रवृत्तियो का निर्देश किया गया है और इस प्रकार ये शास्त्रानुकूल सदाचार के पालन पर अधिक वल देते हुए प्रतीत होते है। यह वात सामान्य रूप से ऋषिभाषित मे भी उपलब्ध होती है। फिर भी सुनिश्चित रूप से यह कह पाना कि पुष्पशालपुत्र पालि साहित्य के पुष्पस्थविर ही है, कठिन है। एक सकेत जो हमे वौद्ध साहित्य मे मिलता है वह यह कि ये पण्डर भिक्षु थे। पण्डर भिक्षुओ का उल्लेख हमे जैन और वौद्ध दोनो ही स्रोतो से प्राप्त होता है। सम्भव है कि पुष्पशालपुत्र पण्डर भिक्षुओ की परम्परा के रहे हो, और वह परम्परा विनयवादियो की परम्परा रही हो। ऋषिभाषित मे उनके उपदेश का प्रारम्भ इस प्रकार होता है—"अजलि पूर्वक पृथ्वी पर मस्तक रखकर उन्होने समस्त शयनासन तथा भोजनपान का त्याग कर दिया। सम्भावना यही लगती है कि ये निर्ग्रन्थ परम्परा से भिन्न किसी अन्य परम्परा के ऋषि थे, जिन्होने अन्त मे आमरण अनशन करके शरीर त्यागा होगा, किन्तु विस्तृत जानकारी के अभाव मे अधिक कुछ कह पाना सम्भव नही है। वैदिक परम्परा मे इनके सम्वन्ध मे हमे कोई जानकारी उपलब्ध नही हो सकी।

६. वल्कलचीरी

ऋषिभाषित[६२] के षष्ठ अध्याय मे वल्कलचीरी के उपदेशो का संकलन है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त वल्कलचीरी का उल्लेख हमे औपपातिक,[६३] भगवती

---

६१ थेरगाथा अट्ठकथा (खण्ड २) पृष्ठ ८२

६२ ऋषिभाषित ६वा अध्ययन

६३ औपपातिक अनु० ३८ (आगमोदय समिति वम्वई, १९१६)

सूत्र,[६४] आवश्यक चूर्णि[६५] तथा ऋषिमण्डल[६६] मे भी मिलता है। वल्कलचीरी की कथा जैन परम्परा मे एक प्रसिद्ध कथा है। आवश्यक चूर्णि और ऋषिमण्डल वृत्ति मे यह कथा उपलब्ध है। आवश्यक चूर्णि के निर्देशानुसार यह कथा वसुदेवहिंडी मे भी उपलब्ध है।[६७]

आवश्यक चूर्णि मे एव अन्यत्र उपलब्ध कथा के अनुसार ये पोतनपुर निवासी राजा सोमचन्द्र के पुत्र तथा प्रसन्नचन्द्र के भाई बताये गये है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का भाई होने के कारण इन्हे महावीर का समसामयिक माना जा सकता है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की कथा जैन परम्परा मे प्रसिद्ध ही है। आवश्यक चूर्णि मे इन की कथा भी उपलब्ध होती है। इन कथा-स्रोतो से इतनी सूचना अवश्य मिलती है कि इनके पिता दिशाप्रोषक तापसी साधना करते थे। दिशाप्रोषक तापसो का उल्लेख औपपातिक आदि अन्य जैन ग्रन्थो मे भी मिलता है। अपने पिता के सानिध्य मे जगल मे ही पलने के कारण इन्हे स्त्री-पुरुष, अश्व और मृग का भेद भी ज्ञात नही था। इन्हे अपने पिता के साधना-उपकरणो का प्रमार्जन करते हुए ज्ञान प्राप्त हुआ।

ऋषिभाषित मे उपलब्ध वल्कलचीरी के उपदेशो से लगता है कि इनके मन मे स्त्रियो के प्रति विशेष रूप से वैराग्य भाव था। ब्रह्मचर्य की शिक्षा इनके उपदेश का मूल सारतत्त्व है। ये कहते हैं कि, हे पुरुष! स्त्रीवृन्द के प्रति अत्यन्त आसक्त होकर अपना ही शत्रु मत बन। तुमसे जितना सम्भव हो (कामवासना से) युद्धकर। क्योकि, इनसे तू जितना दूर रहेगा उतना ही उपशान्त बनेगा।

इस समग्र विवरण से ऐसा लगता है कि वल्कलचीरी ब्रह्मचर्य की साधना पर विशेष रूप से बल देने वाले ऋषि रहे होगे। जैन परम्परा मे उनके लिए प्रयुक्त भगवन् शब्द भी उनकी महत्ता को स्पष्ट करता है। वल्कलचीरी नाम इस तथ्य को भी प्रकट करता है कि वे वल्कल के वस्त्र धारण करते होगे।

जैन परम्परा के अतिरिक्त वल्कलचीरी का उल्लेख हमे बौद्ध परम्परा[६८] मे भी मिलता है। यहाँ उन्हे वल्कली थेर कहा गया है तथा उन्हे तीनो वेदो का ज्ञाता

---

६४ भगवती सूत्र अनु० ४१८ (आगम सुधासिन्धु १९७७)

६५ आवश्यकचूर्णि भाग १ पृ ४५५-४६०

६६ ऋषिमण्डल वृत्ति ६४

६७ एवमादि जहा वसुदेवहिंडीए एत्थ पुण वक्कलचीरिणो अहिगारो.... ।
आवश्यक चूर्णि भाग १, पृ० ४६०

पिउतावसउवगरण पमज्जयतस्स केवल नाण ।
उप्पन्न जस्स कए वक्कलचीरिस्स तस्स नमो ।

६८ थेरगाथा अट्ठकथा खण्ड १ पृ ४२० (पालि टेक्स्ट सोसाइटी)

और श्रावस्ती निवासी एक ब्राह्मण बताया गया है । पालि साहित्य मे उपलब्ध उल्लेखो के अनुसार बल्कली बौद्ध सघ मे दीक्षित होते है, फिर उन्हे सघ से निष्कापित कर दिया जाता है । गृध्रकूट पर्वत पर उनके साधना करने के उल्लेख मिलते है । पाली साहित्य मे बुद्ध उनकी श्रद्धा की प्रशसा करते है । वैदिक परम्परा मे वल्कलचीरी का उल्लेख हमे नही मिलता है । चाहे बौद्ध परम्परा ने इन्हे अपने से जोडने का प्रयत्न किया हो, किन्तु मेरी दृष्टि मे ये तापस परम्परा के ऋषि रहे होगे ।

७. कुम्मापुत्त

ऋषिभाषित के सातवे अध्याय मे कुम्मापुत्त (कूर्मापुत्र) ऋषि के उपदेशो का सकलन है । जैन परम्परा मे ऋषिभाषित[९९] के साथ-साथ कुम्मापुत्त का उल्लेख विशेषावश्यक भाष्य,[१००] आवश्यकचूर्णि[१०१] औपपातिक की टीका[१०२] तथा हरिभद्र की चकना विशेषणवती[१०३] मे भी उपलब्ध होता है । इसिमडल[१०४] (ऋषिमण्डल) मे भी इनका उल्लेख है । किन्तु, इन ग्रन्थो मे इनका विस्तृत जीवन-वृत्त नही मिलता है । इनका विस्तृत जीवन-वृत्त तो ऋषिमडल की वृत्ति तथा कुम्मापुत्तचरियम् में मिलता है, किन्तु ये दोनो रचनाये बारहवी शताब्दी के पश्चात् की ही है । प्राचीन जैन साहित्य मे इन्हे बौने या वामन व्यक्ति के रूप मे चित्रित किया गया है और इनके शरीर की ऊचाई मात्र दो हाथ (लगभग 3 फीट) बतायी गयी है । इन्होने गृहस्थावस्था मे ही कैवल्य प्राप्त कर लिया था । इन उल्लेखो से इतना निश्चित होता है कि ये प्राचीन श्रमण परम्परा के कोई ऋषि रहे है ।

ऋषिभाषित मे वे निराकाक्ष या आसक्तिहीन होने का उपदेश देते है । उनके उपदेश मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे आकाक्षा को ही दु ख का कारण मानते है और कहते हैं कि यदि एक आलसी व्यक्ति भी निराकाक्ष होकर सुखी हो जाता है तो फिर एक प्रबुद्ध प्रयत्नशील साधक के लिए निराकाक्ष होकर सुखी होने मे कोई आपत्ति ही नही हो सकती । वस्तुत उनका यह उपदेश गीता के अनासक्त योग के उपदेश के ही समान है ।

---

९९ ऋषिभाषित ७ वाँ अध्ययन

१०० विशेषावश्यक भाष्य गाथा ३१९९

१०१. आवश्यक चूर्णि भाग १ पृ ५८३

१०२ औपपातिक वृत्ति पृ ११४

१०३ विशेषणवती—हरिभद् गाथा ३८, ४१—४४

१०४ ऋषिमण्डल उत्तरार्द्ध पृ १९३

जैन परम्परा के अतिरिक्त बौद्ध परम्परा मे भी हमे कुम्मापुत्त थेर का उल्लेख उपलब्ध होता है । थेर गाथा[105] और अपदान[106] की अट्ठकथा मे कुम्मापुत्त का कथानक विस्तार से उपलब्ध होता है । इन्होने अपने पूर्वजन्म मे विप्पसि बुद्ध को पैरो पर मर्दन करने के लिए तेल प्रदान किया था। उसी पुण्य के फलस्वरूप वे अवन्ति राष्ट्र के वेलुत्कण्टक नगर मे किसी गृहपति के कुल मे उत्पन्न हुए। उनकी माता का नाम कुम्मा होने से उन्हे कूर्मापुत्र कहा जाता है। ये सारिपुत्त का उपदेश सुनकर प्रव्रजित हुए थे और इन्हे कर्मस्थान के सम्बन्ध मे चिन्तन करते हुए विपश्चना के द्वारा अर्हत् पद प्राप्त हुआ। थेरगाथा मे कुम्मापुत्त सायथेर का भी उल्लेख मिलता है। ये वस्तुत कुम्मापुत्त के सहायक या निकटस्थ व्यक्ति थे, अत कुम्मापुत्त से भिन्न है जैन और बौद्ध दोनो परम्पराओ मे इस सम्बन्ध मे मतैक्य है कि अपनी माता के नाम पर ही इनका नाम कुम्मापुत्त प्रसिद्ध हुआ था। इसके साथ-साथ यह भी सत्य है कि इनके उपदेशो का सारतत्त्व निष्कामता और मनोभावो की शुद्धि था। सम्भवत ये महावीर और बुद्ध के सम-कालिक अथवा उनसे कुछ पूर्ववर्ती रहे होगे। जहाँ तक वैदिक परम्परा का प्रश्न है हमे उसमे कुम्मापुत्त के सम्बन्ध मे कोई उल्लेख उपलब्ध नही हुआ है।

८. केतलीपुत्त

ऋषिभाषित के आठवे अध्याय मे केतलीपुत्र के उपदेशो का सकलन है। केतलीपुत्त के सम्बन्ध मे हमे ऋषिभाषित[107] के अतिरिक्त अन्यत्र कही से कोई भी सूचना प्राप्त नही होती है। अन्य किसी जैन आगम ग्रन्थ मे अथवा परवर्ती कथा-ग्रन्थो मे भी इनका उल्लेख नही प्राप्त होता। बौद्ध और वैदिक परम्पराये भी इनके सम्बन्ध मे मौन है। अत ये कौन थे ? यह कह पाना कठिन है।

केतलीपुत्र के सक्षिप्त उपदेश के अतिरिक्त ऋषिभाषित मे हमे उनके सम्बन्ध मे अन्य कोई जानकारी उपलब्ध नही होती है। ऋषिभाषित का दसवा अध्याय तेतलीपुत्त से सम्बन्धित है। तेतलीपुत्त का उल्लेख ज्ञाता, अनुत्तरोपपातिक, आवश्यक चूर्णि, इसिमण्डल तथा उसकी वृत्ति मे मिलता है। यह भी सभव है कि उच्चारण भेद के कारण एक ही व्यक्ति के दोनो नाम प्रचलित रहे हो और इसी आधार पर इन्हे दो स्वतन्त्र व्यक्ति मान लिया गया हो। यद्यपि निश्चित प्रमाणो के अभाव के कारण इस सम्बन्ध मे अधिक कुछ कह पाना कठिन है। ऋषिभाषित मे केतलीपुत्र का उपदेश यह है कि व्यक्ति आर (ससार) मे दो गुणो

---

१०५ थेरगाथा अट्ठकथा खण्ड १ पृष्ठ १०० (पालिटेक्स्ट सोसाइटी)

१०६ अपादान अट्ठकथा खण्ड २ पृष्ठ ४५६

१०७ ऋषिभाषित आठवाँ अध्ययन

से और पार (निर्वाण) म एक गुण से युक्त होता है, अत व्यक्ति को रेशम के कीडे की भाति अपने वन्धन को तोडकर मुक्ति प्राप्त कर लेना चाहिए।

प्रस्तुत अध्याय मे ससार के लिए 'आर' और मुक्ति के लिए 'पार' शब्द का जो प्रयोग हुआ है वह हमे आचाराग और सूत्रकृताग मे भी उपलब्ध होता है। इससे इस उपदेश की प्राचीनता सिद्ध होती है। आर (ससार) मे दो गुण और पार (मुक्ति) मे एक गुण रहता है। इसकी व्याख्या अनेक दृष्टि से की जा सकती है। यथा—ससार मे ज्ञान कौर कर्म (चारित्र) दो गुण होते है जबकि मुक्ति मे ज्ञान नामक एक ही गुण होता है अथवा ससार मे राग और द्वेष दो गुण होते है जबकि मुक्ति मे वीतरागता का एक ही गुण होता है। उनके इस उपदेश से ऐसा लगता है कि ये उस युग मे कोई रहस्यवादी साधक रहे होगे। विशेष जानकारी के अभाव मे इनकी ऐतिहासिकता के सम्बन्ध मे कुछ भी कहना कठिन है।

९. महाकाश्यप

ऋषिभापित[१०८] के नवम अध्याय मे महाकाश्यप के उपदेशो का सकलन है। भारत मे काश्यप एक प्रसिद्ध गोत्र रहा है। महावीर और ऋषभ को भी काश्यप-गोत्रीय बताया गया है। मात्र यही नही, सूत्रकृताग[१०९] मे तो महावीर को "वीरेण कासवेण महेसिना" के रूप मे सम्वोधित किया गया है। इसी प्रकार भगवती सूत्र[११०] मे पार्श्व की परम्परा के एक काश्यप नामक स्थविर का भी उल्लेख है। अत यह महाकाश्यप कौन है? यह निर्णय करना कठिन है। उत्तराध्ययन चूर्णि[१११] मे कपिल ब्राह्मण के पिता को भी काश्यप कहा गया है। इसी प्रकार अन्त-कृत्दशा[११२] मे काश्यप गाथापति का भी उल्लेख मिलता है। किन्तु, मेरी दृष्टि मे इन मे से किसी के भी सम्बन्ध ऋषिभाषित के महाकाश्यप से नही है। काश्यप के साथ लगा 'महा' विशेपण इस वात को सूचित करता है कि ये कोई विशिष्ट व्यक्ति रहे होगे।

वौद्ध परम्परा[११३] मे हमे एक विशिष्ट भिक्षु के रूप मे महाकाश्यप का उल्लेख मिलता है। इन्हे वुद्ध का अग्रगण्य शिष्य कहा गया है। अत यह सम्भव है कि ऋषिभाषित के महाकाश्यप वौद्ध परम्परा के महाकाश्यप हो।

---

१०८ ऋषिभापित नवा अध्ययन
१०९ सूत्रकृताग १ २ २७
११० भगवती सूत्र ५५०
१११ उत्तराध्ययन चूर्णि पृ १६८
११२ अन्तकृद्दशा सूत्र १२
११३ अगुत्तरनिकाय खण्ड १ पृष्ठ २३ (पालि टेक्स्ट सोसाइटी)

हमारी इस सम्भावना को इस आधार पर भी पुष्ट किया जा सकता है कि बौद्ध परम्परा के अन्य दो भिक्षु वज्जीपुत्त और सारिपुत्त का उल्लेख भी ऋषिभाषित मे उपलब्ध है। अत यह माना जा सकता है कि ऋषिभाषित के महाकाश्यप बौद्ध परम्परा के महाकाश्यप ही है।

ऋषिभाषित मे महाकाश्यप के सकलित उपदेशो से इस बात की पुष्टि होती है कि वे बौद्ध परम्परा से सम्बन्धित ऋषि है, क्योकि उनके उपदेशो मे एक ओर सततिवाद की चर्चा है, तो दूसरी ओर निर्वाण की उपमा दीपक के शान्त होने से दी गयी है। ये दोनो तथ्य बौद्ध परम्परा मे सुस्पष्ट रूप से प्रचलित रहे है।

महाभारत[११४] मे कश्यप नाम के एक प्रसिद्ध मन्त्रवेत्ता ब्राह्मण का उल्लेख मिलता है जो परीक्षित के प्राण बचाने के लिए आ रहे थे, किन्तु इनका सम्बन्ध ऋषिभाषित के महाकाश्यप से नही जोडा जा सकता। क्योकि, ऋषिभाषित के महाकाश्यप बुद्ध और महावीर के समकालीन थे, जबकि ये महाभारत कालीन है। इसी प्रकार शतपथ[११५] ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक[११६] आदि मे भी काश्यप का उल्लेख है। किन्तु, वह यह पैतृक नाम के रूप मे ही प्रयुक्त हुआ है अत इनका सम्बन्ध ऋषिभाषित के काश्यप से नही जोडा जा सकता। अत मेरी दृष्टि मे ऋषिभाषित के महाकाश्यप बौद्ध परम्परा के ही महाकाश्यप हैं।

१०. तेतलीपुत्र

ऋषिभाषित के १० वे अध्याय मे तेतलीपुत्र के उपदेशो का सकलन है।[११७] प्राचीन जैन साहित्य मे ऋषिभाषित के अतिरिक्त ज्ञाताधर्मकथा[११८] विपाकसूत्र,[११९] विशेषावश्यक-भाष्य[१२०] और सूत्रकृताग चूर्णि[१२१] मे तेतलीपुत्र का उल्लेख मिलता है। ज्ञाताधर्मकथा के १४ वे अध्ययन मे तेतलीपुत्र का विस्तृत विवरण उपलब्ध है। ज्ञाता के अनुसार ये तेतलीपुर नामक नगर के कनकरथ

---

११४ आदि पर्व ४२/३३

११५ शतपथ ब्राह्मण ७ ५ १ ५

११६ तैत्तिरीय आरण्यक २/१८, १०/१,८

११७ ऋषिभाषित अध्याय १०

११८ ज्ञाताधर्मकथा १/१४

११९ विपाकसूत्र सूत्र ३२

१२० विशेषावश्यक भाष्य गाथा ३३३२

१२१ सूत्रकृताग चूर्णि पृ २८

नामक राजा के अमात्य थे। इन्होने स्वर्णकार पुत्री पोट्टिला से विवाह किया था। राजा कनकरथ इस भय से कि मेरी ही सन्तान मुझे पदच्युत न कर दे, अपने पुत्रो को विकलाग कर देता था। रानी ने यह समस्या तेतलीपुत्र को बतायी। सयोग से उसकी पत्नि पोट्टिला और रानी पद्मावती साथ-साथ गर्भवती हुई और साथ ही प्रसव किया। तेतलीपुत्र की पत्नि ने मृतकन्या और रानी ने पुत्र का प्रसव किया। तेतलीपुत्र अपनी मृतकन्या रानी को देकर पुत्र को घर ले आता है तथा पुत्रोत्सव करता है। कुछ कारणो से वह पोट्टिला से अन्यमनस्क हो जाता है। नगर मे आर्या सुव्रता अपने साध्वी समुदाय के साथ आती है। कुछ साध्वियाँ शिक्षार्थ तेतलीपुत्र के घर मे प्रवेश करती है। पोट्टिला साध्वियो से पति को वश मे करने का उपाय पूछती है। आर्यिकाएँ कहती हैं कि 'ऐसे उपाय बताना हमारे लिए निषिद्ध है, हम धर्मोपदेश दे सकती हैं'। पोट्टिला धर्मोपदेश सुनकर दीक्षित हो जाती है। उधर कनकरथ की मृत्यु के पश्चात् उसके द्वारा पोषित राजपुत्र राजा बनता है, वह तेतलीपुत्र को उसके उपकार के कारण पर्याप्त सम्मान देता है। कथा के अनुसार पोट्टिला मरकर स्वर्ग मे देव बनती है और अपने पूर्व पति को प्रतिबोध देना चाहती है। राजा को उसके विरुद्ध कर देती है। राजा से यथोचित सम्मान न मिलने पर तेतलीपुत्र दु खी हो आत्महत्या का प्रयत्न करता है। आत्म-हत्या के अनेक उपाय करने पर भी वह असफल रहता है, अत उसका जीवन अविश्वास और अश्रद्धा से भर जाता है। अवसर जानकर पोट्टिला, जो देवता बन गई थी, उसे प्रतिबोध देती है। उसके उपदेश से प्रतिबोधित हो तेतलीपुत्र दीक्षित हो साधना करते हुए मुक्ति प्राप्त करते हैं। यही कथा सक्षेप मे ऋषिभाषित मे भी है। ज्ञाता और ऋषिभाषित के इस अध्ययन की तुलना के लिए यहाँ दोनो से कुछ पाठ दिये जा रहे है।

ऋषिभाषित (१०)

सद्धेय खलु समणा वदन्ती, सद्धेय खलु माहणा, अहमेगो असद्धेय वदिस्सामि। तेतलीपुत्तेण अरहता इसिणा वुइय। सपरिजण पि णाम मम अपरिजणो त्ति को मे न सद्दहिस्सति ? सपुत्त पि णाम मम अपुत्ते त्ति को मे सद्दहिस्सति ? एव समित्त पि णाम मम, सवित्त पि णाम मम, स परिग्गह पि णाम मम, दाण-माण-सक्कारोवयारसगहिते तेतलिपुते स सयणपरिजणे विरागं गते को मे त सद्दहिस्सति।

ज्ञाताधर्मकथा (२/१४)

तए ण से तेतलीपुत्ते एव वयासि सद्धेय खलु भो समणा वयति, सद्धेय खलु भो माहणा वयति, अहमेगो असद्धेय वयामि। सपुत्तेहि अपुत्ते को मेद सद्दहिस्सई ? समित्तेहि अमित्ते को मेद सद्दहिस्सइ ? एव अत्थेण दारेण, दासेहि परिजणेण।

तेतलीपुत्तेण अमच्चेण....तालपुडके विसे खातिते त्ति से वियसे पडिहते त्ति को मे त सद्दहिस्सति ?... महतिमहालय रुक्ख दुरुहित्त पासे छिण्णे तहावि ण मए को मे त सद्दहिस्सति ? महति-महालय पासाण गीवाए वन्धित्ता अत्थाहाए पुक्खरिणीए अप्पा पक्खिते तथ्य अवि य ण थाहे लद्धे, को मे त सद्दहिस्सति ? तेतलिपुत्तेण महति-महालिय कट्ठरासी पलीवेत्ता अप्पा पक्खित्ते से विय से अगणिकाए विज्भाए को मे त सद्दहिस्सति ?

तेतलिपुत्तेण अमच्चेण · तालपुडगे विसे आसगसि पक्खित्ते, से वि य णो सकमइ को मेद सद्दहिस्सइ ? पासग वधेत्ता जाव रज्जू छिन्ना को मेद सद्दहिस्सइ ? महासिलय वधित्ता अत्थाह जाव उदगसि अप्पामुक्के, तत्थ वि य ण थाहे जाए, को मेद सद्दहिस्सइ ? सुकसि तणकूडे अग्गी विज्भाए को मेद सद्दहिस्सइ ?

तए ण सा पुट्टिला मुसियारधूता ·· ·अन्तलिक्ख पडिवण्णा एव वयासी आउसो तेतलिपुत्ता · ·पुरओ वित्थिण्णे गिरिसिहर कदरप्पवाते, पिट्ठओ कम्पेमाणे व्व मेहणितल साकड्ढन्ते व्व पायवे णिप्फोडेमाणे व्व अम्बरतल सव्वतमोरासिंव्व पिण्डिते, पच्चक्खमिव सय कतत्ते भीम ख करेन्ते घरणि । प्पवेसिणो सरणितन्ति, पहुयवहजाला सहस्ससकुल समन्ततो पलित्त धग-धगेति····आउसो तेतलिपुत्ता कत्तो वयामो ?

तएण से पोट्टिले देवे ··अदूरसामते ठिच्चा एव वयासी ह भोतेयलिपुत्ता पुरओ पवाए, पिट्ठओ हत्थिभय दुहओ अचक्खुफासे मज्भे सराणि वरिसति, गामे पलित्ते रज्ज भियाइ · आउसो तेयलिपुत्ता कओ वयामो ?

त तेण से तेतलिपुत्ते· पोट्टिल मूसि-यारधूय एव वयासि पोट्टिले । एहि ता आयाणाहि भीयस्स खलु भो पव्वज्जा, अभिउतस्स सवहणकिच्च मातिस्स रहस्सकिच्च, उक्कठियस्स देसगमण-किच्च, छुहियस्स भोयणकिच्च पिपासियस्स पाणकिच्च, पर अभिउ-जिउकामस्स सत्थकिच्च, खन्तस्स दन्तस्स गुत्तस्स जितिन्दियस्स एत्तो ते एक्कमवि ण भवइ ।

त एण से तेयलिपुत्ते पोट्टिल देव एव वयासि–भीयस्स खलु पव्वज्जा सरण उक्कठियस्स देसगमण, छुहिस्स अन्न, तिसियस्स पाण, आउरस्स भेसज्ज माइयस्स रहस्स, अभिजुदस्स पच्चय-करण पर अभिओ जितुकामस्ससहाय-किच्च खतस्स दतस्स जिइदियस्स एतो एगमवि ण भवइ ।

इन दोनो पाठो का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम पाते है कि (१) ज्ञाताधर्म-कथा मे ऋषिभाषित की अपेक्षा तेतलिपुत्र का विवरण अधिक विकसित है और उसमे अलौकिक तत्त्व अधिक जुड गये है। (२) दूसरे ज्ञाता की अपेक्षा ऋषिभाषित के पाठो की भाषा 'त' श्रुति प्रधान और अर्ध मागधी के निकट है और इसलिए प्राचीन भी है, जबकि ज्ञाता की भाषा 'य' श्रुति प्रधान, महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव से युक्त और अपेक्षाकृत परवर्ती है।

जहाँ तक प्रस्तुत अध्याय की मूलभूत शिक्षा या उपदेश का प्रश्न है वह अस्पष्ट ही है। वस्तुत प्रस्तुत अध्याय मे उपदेश भाग अति अल्प ही है। वस्तुत तेतलिपुत्र इसमे अपने जीवन के अनुभव प्रस्तुत करते है, वे कहते है—मै परिजनो, मित्रो पुत्रो आदि से युक्त होकर भी असहाय अनुभव करता हूँ, धन-सम्पत्ति से युक्त होकर भी दीन हूँ, निराश होकर आत्म-हत्या के प्रयत्न किये किन्तु उसमे भी असफल ही रहा। अत मेरे जीवन मे अविश्वास भर गया है। जहाँ दूसरे श्रमण-ब्राह्मण श्रद्धा की बात कहते है, मै अकेला अश्रद्धा (अविश्वास) का प्रतिपादन करता हूँ। यह अविश्वास या अनास्था ही उनके वैराग्य का कारण है। ज्ञाता एव ऋषिभाषित के अतिरिक्त स्थानाग मे भी तेतलिपुत्र का उल्लेख है[१२२]। उसमे अनुत्तरोपपातिक की आठवे अध्ययन (दशा) का नाम 'तेतली' कहा गया है, किन्तु वर्तमान अनुत्तरोपपातिक दशा मे यह अध्ययन (दशा) अनुपलब्ध है। चूकि ज्ञाता मे तेतलि-पुत्र का वृत्त आ गया था अत उसे यहाँ से हटा दिया गया होगा। साक्ष्य के अभाव मे आज यह कह पाना कठिन है कि इस दशा मे पूरी विषय वस्तु क्या थी?

जैन साहित्य के अतिरिक्त बौद्ध एव वैदिक साहित्य मे इनके सम्बन्ध मे कोई भी उल्लेख उपलब्ध नही है। इससे ऐसा लगता है कि ये मूलत निग्रन्थ धारा से सम्बन्धित रहे होगे।

११. मंखलिपुत्त

ऋषिभाषित[१२३] ग्यारहवा अध्याय मखलिपुत्त से सम्बन्धित है। यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है कि ये मखलिपुत्त कौन थे। जैन और बौद्ध परम्पराओ मे मखलि गोसाल या मक्खलि गोसाल का उल्लेख उपलब्ध होता है। भगवती सूत्र का १५ वा शतक[१२४] मखलिगोसाल के जीवन-वृत्त और उनकी दार्शनिक मान्यताओ का विवरण प्रस्तुत करता है। जैन परम्परा मे भगवती सूत्र

---

१२२ स्थानाग सूत्र ७५५

१२३ ऋषिभाषित ११वाँ अध्ययन

१२४ भगवती सूत्र ५४०

के अतिरिक्त मखलि गोसाल का विवरण उपासक दशा,[125] आवश्यक निर्युक्ति,[126] विशेषावश्यक भाष्य,[127] आवश्यक चूर्णि,[128] आदि अनेक ग्रन्थो मे उपलब्ध है। उपलब्ध वृत्तो के अनुसार इन्हे मखलि नामक मख का पुत्र होने के कारण मखलि-पुत्र और गोशाला मे जन्म लेने के कारण गोशाल कहा जाता था। जैन परम्परा के अनुसार ये महावीर के दीक्षित होने के पश्चात् उनके दूसरे चातुर्मास मे उनसे मिले और लगभग छ वर्ष तक उन्ही के साथ रहे। बाद मे नियतिवाद के प्रश्न को लेकर दोनो मे मतभेद हो गया। भगवती सूत्र की सूचना के अनुसार महावीर की दीक्षा के २४ वर्ष पश्चात् मखलिपुत्त गोसाल ने अपने आप को जिन या तीर्थकर घोषित कर दिया। इस सम्बन्ध मे विस्तृत चर्चा भगवती सूत्र मे उपलब्ध होती है। किन्तु, हमारी दृष्टि मे वह एकपक्षीय तथा अतिरजित विवरण है। इन कथा-स्रोतो से हम केवल इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते है कि मखलिपुत्त गोसाल ने महावीर से स्वतन्त्र अपनी एक परम्परा स्थापित कर ली थी और उनका समाज पर एक व्यापक प्रभाव था। उनका यह सम्प्रदाय आगे चलकर आजीवक के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

बौद्ध त्रिपिटक साहित्य[129] मे भी मक्खलि गोसाल को बुद्ध के समकालीन छ तीर्थंकरो मे एक माना गया है। इसके अतिरिक्त थेरगाथा[130] मे भी गोसाल थेर का उल्लेख है। यद्यपि इसकी अट्ठकथा मे जो विवरण है उसमे उन्हे मगध राष्ट्र मे उत्पन्न कहा गया है। यद्यपि अन्य विवरण मे जैन एव बौद्ध उल्लेखो से कोई समानता नही है। बौद्ध और जैन दोनो ही परम्पराओ के उपलब्ध विवरण इतना तो स्पष्ट कर दे रहे है कि मखलिपुत्त गोसाल अपने युग के एक प्रभावशाली आचार्य तथा नियतिवाद के सस्थापक थे। पालि त्रिपिटक और जैन आगम साहित्य मे उनके दार्शनिक मन्तव्यो की विस्तार से चर्चा उपलब्ध होती है। दोनो ही उन्हे नियतिवादी मानते है। नियतिवाद वह विचारधारा है जो व्यक्ति के पुरुषार्थ की अपेक्षा विश्व की एक नियत व्यवस्था पर बल देती है। यहाँ हम इस सम्बन्ध मे अधिक विस्तार से चर्चा करना नही चाहेगे। किन्तु, इतना अवश्य ही कहना चाहेगे कि जैन और बौद्ध दोनो ही परम्पराओ मे ऋषिभाषित के अतिरिक्त मखलि गोसाल के सम्बन्ध मे और उनकी दार्शनिक मान्यताओ के सम्बन्ध मे जो विवरण उपलब्ध है वे एक-पक्षीय आलोचनात्मक है और मखलि गोसाल के व्यक्तित्व और दार्शनिक मान्यताओ को विकृत रूप मे प्रस्तुत करते है। सम्भवत ऋषिभाषित ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ

---

१२५ उपासकदशा ६/२०,२१,२३,२८, ७/८,११,४२-४५ (लाडनू)

१२६ आवश्यकनिर्युक्त गाथा ४७४

१२७ विशेषावश्यक भाष्य गाथा १९२८

१२८ आवश्यक चूर्णि पृ २८२

१२९ दीघनिकाय प्रथम पृ ५३ (पा टे सो)

१३० थेर गाथा २३

है जो मखलिपुत्त को एक सम्मानित अर्हत ऋषि के रूप मे और उनके उपदेशो को प्रमाणिक रूप मे प्रस्तुत करता है। यह सत्य है कि ऋषिभाषित मे मखलि गोसाल का जो उपदेश प्रस्तुत है उसमे भी नियतिवादी तथ्य देखे जा सकते है। किन्तु, मखलिपुत्त के इस नियतिवाद का उद्देश्य व्यक्ति के कर्तृत्व के अहकार को समाप्त कर उसे एक अनासक्त जीवन दृष्टि प्रदान करना है। वे स्पष्ट रूप से कहते है कि जो पदार्थो की परिणति को देखकर कम्पित होता है, प्रभावित होता है, क्षोभित होता है, आहत होता है—वह साधक तदनुरूप मनोभावो से प्रभावित होने के कारण आत्मरक्षक नही बन सकता। मखलिपुत्त के उपदेश का तात्पर्य यही है कि विश्व की घटनाए अपने क्रम से घटित होती रहती है। व्यक्ति के नही चाहने पर भी जीवन मे प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती है। जो व्यक्ति जीवन की अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियो मे इन्हे पुद्गल की परिणति समझकर अप्रभावित, अक्षोभित अनाहत रहता है वही साधक चतुर्गति रूप इस ससार से अपनी और दूसरो की रक्षा कर सकता है। उनके इस उपदेश से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके नियतिवाद का मुख्य उपदेश अनासक्त जीवन के निर्माण के लिए है। यही बात हमे भगवद्-गीता के उपदेश मे मिलती है। वहाँ भी नियतिवाद का उपदेश व्यक्ति की फलासक्ति को समाप्त करने के लिए दिया गया है।

महाभारत[१३१] मे हमे मकि गीता के नाम से मकिऋषि के उपदेश प्राप्त होते है। मेरी मान्यता है कि महाभारत के यह मकि ऋषि निश्चित ही ऋषि-भाषित के मखलिपुत्त है। क्योकि, मकी गीता स्पष्ट रूप से नियतिवाद का प्रति-पादन करती है। वह कहती है कि जो कुछ होता है वह व्यक्ति के प्रयत्न मे नही अपितु दैव की लीला से है। भाग्य ही सब कुछ है। जो हठपूर्वक पुरुषार्थ करता है तथा उसमे सफल नही होता तो खोज करने पर ज्ञात होता है कि उसमे दैव का ही सहयोग है। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि ऋषिभाषित के मखलिपुत्त, भगवती सूत्र आदि जैन आगमो मे उल्लिखित मखलि गोसाल, पालि त्रिपिटक साहित्य मे उल्लिखित मक्खलि-गोसाल तथा महाभारत के मकि ऋषि एक ही व्यक्ति है। वस्तुत जैन और बौद्ध परम्पराओ मे जब साम्प्रदायिक अभिनिवेश दृढ हुआ तब ही उनके उपदेशो को तथा उनके जीवन वृत्त को विकृत रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया। यह भी साहित्यिक और अभिलेखीय प्रमाणो से सिद्ध होता है कि मखलिपुत्त अपने युग के एक प्रभावशाली श्रमण परम्परा के व्यक्ति थे और उनका आजीवक सम्प्रदाय उनके पश्चात् भी लगभग १००० वर्ष तक अस्तित्व मे रहा। ऋषिभाषित के मखलिपुत्त आजीवक परम्परा के प्रबुद्ध आचार्य मखलि गोसाल ही हैं। यद्यपि भगवतीसूत्र के १५ वे शतक मे इस परम्परा के अन्य आचार्यो के भी उल्लेख मिलते है।

---

१३१ शान्ति पर्व अ १७७

१२. जण्णवक्क (याज्ञवल्क्य)

ऋषिभाषित का बारहवा अध्याय जण्णवक्क (याज्ञवल्क्य) से सम्बन्धित है। इसमे याज्ञवल्क्य को अर्हत् ऋषि कहा गया है। याज्ञवल्क्य के जीवनवृत्त एव उपदेशो के सम्बन्ध मे ऋषिभाषित[132] के अतिरिक्त जैन आगम साहित्य एव कथा साहित्य से अन्य कोई सूचना प्राप्त नही होती है। ऋषिभाषित की सग्रहणी गाथा मे उन्हे अरिष्टनेमि के युग का प्रत्येकबुद्ध कहा गया है। इनके सम्वन्ध मे, विस्तृत जानकारी के लिए हमे जैनतर स्रोतो पर ही निर्भर रहना पडता है। जैनेतर स्रोतो मे भी बौद्ध स्रोतो से हमे कोई जानकारी प्राप्त नही होती है, मात्र वैदिक स्रोतो से ही हमे इनके बारे मे जानकारी प्राप्त होती है। वैदिक स्रोतो मे याज्ञवल्क्य का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण[133], शाखायन आरण्यक[134], बृहदारण्यक उपनिषद्[135] और महाभारत[136] मे प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य के नाम से याज्ञ-वल्क्य स्मृति भी प्रसिद्ध है। शतपथ ब्राह्मण और शाखायन आरण्यक मे याज्ञवल्क्य के जो उल्लेख उपलब्ध है, वे समान ही है। यदि हम महाभारत और याज्ञवल्क्य स्मृति को छोड दे, तो वैदिक साहित्य मे बृहदारण्यक उपनिषद् ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है, जिसमे याज्ञवल्क्य का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् के कथानक के आधार पर ओल्डेनवर्ग, वेबर आदि ने जनक से सम्बन्धित होने के कारण इनको विदेह निवासी बताया है। यद्यपि वैदिक कोश मे श्री सूर्यकान्त ने कुरु-पाचाल के उद्दालक से इनका सम्बन्ध होने के कारण इनके विदेह निवासी होने पर सन्देह प्रकट किया है। वैसे मेरी दृष्टि मे उद्दालक से सम्वन्ध होने पर भी इनके विदेह निवासी होने पर सन्देह करना उचित नही, क्योकि ऋषि परिभ्रमण-शील होते थे। उद्दालक का उल्लेख हमे ऋषिभाषित मे भी मिलता है। मेरी दृष्टि मे बृहदारण्यक उपनिषद् मे प्राप्त उल्लेख के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि चाहे वे अपने प्रारम्भिक जीवन मे यज्ञ -परम्परा के समर्थक रहे हो, किन्तु जनक के आत्मवाद से प्रभावित होकर अन्त मे वे निवृत्तिमार्गी श्रमण धारा की ओर मुडे। बृहदारण्यक उपनिषद् मे वे कहते है कि आत्मा को जानकर ब्राह्मण पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा का त्याग करके भिक्षाचर्या करते हुये विचरण करते है, क्योकि जो पुत्रैषणा है वही वित्तैषणा है

---

१३२ ऋषिभाषित १२ वाँ अध्ययन

१३३ शतपथ ब्राह्मण ६/७, देखे वैदिक कोश (वो एच यू १६३२) पृष्ठ ४२८

१३४ शाखायन आरण्यक १३/१, देखे वही पृष्ठ ४२८

१३५ बृहदारण्यक उपनिषद् २/४/१ ३/५/१, देखे वही पृ ४२८

१३६ महाभारत सभापर्व ४/१२, ३३/३५, शान्तिपर्व ३१०–३१८

और जो वित्तैषणा है वही लोकैषणा[137] है। बृहदारण्यक उपनिषद् के इस उपदेश की तुलना याज्ञवल्क्य के ऋषिभाषित के उपदेशो से करते है तो दोनो मे विलक्षण रूप से समानता परिलक्षित होती है। ऋषिभाषित मे वे कहते है कि जब तक लोकैषणा है तब तक वित्तैषणा है और जब तक वित्तैषणा है तब तक लोकैपणा है, इसलिए साधक को लोकैषणा और वित्तैषणा का परित्याग करके गोपथ से जाना चाहिये, महापथ से नही। सम्भवत यहाँ गोपथ का तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार गाय थोडी-थोडी घास चरते हुऐ जीवन जीती है, उसी प्रकार से व्यक्ति को भिक्षाचर्या द्वारा किसी को कष्ट न देते हुए जीवन जीना चाहिए। यहाँ महापथ का तात्पर्य लोक-परम्परा या प्रवृत्ति-मूलक-परम्परा से भी हो सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि याज्ञवल्क्य अन्त मे निवृत्ति मार्ग के उपदेशक हो जाते है। वैदिक परम्परा मे बृहदारण्यकोपनिषद् के अतिरिक्त महाभारत मे भी उल्लेख उपलब्ध होते है[138]।

शातिपर्व मे इन्हे जनक को उपदेश देते हुए वर्णित किया गया है। इससे ऐसा लगता है कि ये जनक के समकालीन ऋषि रहे होगे। जैन परम्परा मे इन्हे जो अरिष्टनेमि के युग का ऋषि बताया गया है, वह समीचीन प्रतीत नही होता है। सम्भवत ये इससे भी पूर्वकाल के ऋषि है। बृहदारण्यकोपनिषद् और ऋपिभाषित मे उपलब्ध याज्ञवल्क्य के उपदेशो की तुलना के आधार पर हम इतना अवश्य कह सकते है कि ऋषिभाषित के जण्णवक्क (याज्ञवल्क्य) अन्य कोई नही, अपितु उपनिपदो के याज्ञवल्क्य ही है।

१३. मेतेज्ज भयाली

ऋषिभाषित[139] का तेरहवा अध्याय मेतेज्ज भयालि से सम्बन्धित है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त जैन साहित्य मे भयालि का उल्लेख समवायाग [140] मे

---

१३७ एत वै तमात्मान विदित्वा ब्राह्मण पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्याचरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैपणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एपणे एव भवत ।

—बृहदारण्यकोपनिपद् ३/५/१

तुलनीय—

जाव ताव लोएसणा ताव ताव वित्तेसणा, जाव ताव वित्तेसणा ताव लोएसणा। से लोएसण च वित्तेसण परिन्नाए गोपहेण गच्छेज्जा णो महापहेण ··· ।

—ऋषिभापित १२

१३८ महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३१० से ३१८।

१३९. ऋपिभापित १३ वां अध्ययन

१४० समवायाग ११/४

उपलब्ध होता है। समवायाग मे इन्हे आगामी उत्सर्पिणी काल मे होने वाला सवर नामक उन्नीसवा तीर्थंकर बताया गया है। भयालि के दो अन्य प्राकृत रूप भमालि और भग्गइ भी मिलते है। स्थानागसूत्र [141] मे अन्तकृत्दशा का सातवाँ अध्याय भगालि से सम्बन्धित माना गया है। यद्यपि वर्तमान मे यह अध्ययन उपलब्ध नही है, किन्तु मेरी दृष्टि मे अन्तकृत्दशा के प्राचीन सस्करण मे अवश्य ही यह अध्याय रहा होगा और उसमे भगाली के जीवनवृत्त अथवा उपदेशो का सकलन किया गया होगा। औपपातिक में भग्गइ नामक एक क्षत्रिय परिव्राजक और उसके अनुयाइयो का उल्लेख हुआ है। सम्भव है कि भयालि या भगालि के अनुयायी ही भग्गइ के नाम से जाने जाते हो।

ऋषिभाषित मे भयालि के उपदेशो का प्रतिपाद्य-विषय तो आत्म-विमुक्ति है। वे कहते है कि फल की इच्छा वाला ही पेड का सिंचन करता है। जिसे फल की इच्छा नही है वह सिचन भी नही करता। मूल के सिचन करने से ही फल की उत्पत्ति होती है। मूल को नष्ट कर देने से फल भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार वे यह वताना चाहते है कि ससार से मुक्ति प्राप्त करने के लिए ससार के मूलभूत कारणो का ही विनाश करना होगा। इसके अतिरिक्त दार्शनिक दृष्टि से भयालि यह प्रतिपादन भी करते है कि सत् का कोई कारण नही होता और असत् का भी कोई कारण नही होता। असत् का भव-सक्रमण भी नही होता।

इस प्रकार उनके दर्शन मे उपनिषद्, गीता और साँख्य का वह तत्त्व समाहित है जिसके अनुसार यह माना जाता है कि सत् का विनाश नही होता और असत् की उत्पत्ति नही होती। इसी बात को प्रकारान्तर से इस अध्याय मे कहा गया है।

जहाँ तक भयालि के नाम के साथ लगे मेतेज्ज शब्द का प्रश्न है, महावीर के दसवे गणधर का नाम भी मेतेज्ज था, किन्तु मेरी दृष्टि मे ये मेतेज्ज भयालि उनसे भिन्न व्यक्ति हैं। इनके अतिरिक्त एक अन्य मेतेज्ज नामक श्रमण का उल्लेख मिलता है जो राजगृह के निवासी थे और जिन्होने अपने जीवन को बलिवेदी पर चढाकर भी अहिसा व्रत की रक्षा की थी। इनका उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति,[142] विशेषावश्यक भाष्य,[143] आवश्यकचूर्णि,[144] स्थानाग,[145] और स्थानाग अभयदेवीय

१४१ स्थानाङ्ग सूत्र १५७,२३६

१४२ आवश्यक निर्युक्ति गाथा ८६६,८७०,८७१

१४३ विशेपावश्यक भाष्य गाथा ३३३२,३३३८,३३३९

१४४ आवश्यक चूर्णि भाग १, पृष्ठ ४९४–९५

१४५ स्थानाङ्ग सूत्र १५७,२३६

टीका[१४६] मे मिलता है। सम्भव है ये और ऋषिभाषित के उल्लेखित मेत्तेज्ज भयालि एक ही व्यक्ति हो, किन्तु निश्चित प्रमाण के अभाव मे अधिक कुछ कह पाना सम्भव नही है।

बौद्ध परम्परा मे मेत्तजि थेर[१४७] का उल्लेख उपलब्ध होता है, इन्हे मगध के ब्राह्मण परिवार से सम्बन्धित माना गया है। ये युवा होने पर अरण्यवासी भिक्षु बन गये। तत्पश्चात् ये बुद्ध से मिले, उनसे चर्चा की एव सघ मे प्रवेश लिया और अन्त मे अर्हत् अवस्था को प्राप्त किया। इनके अतिरिक्त बौद्ध परम्परा मे बावरी के शिष्य मेत्तगू थेर का भी उल्लेख मिलता है। यद्यपि मेत्तजि और मेत्तगू थेर का सम्बन्ध मेत्तेज्ज भयालि से हो सकता है, यह कहना कठिन है। इनके अतिरिक्त एक अन्य मेत्तिय थेर का उल्लेख भी उपलब्ध होता है। इन मेत्तिय थेर को छब्बर्गीया भिक्षुओ के एक वर्ग का नेता भी कहा गया है। इनके अतिरिक्त बौद्ध परम्परा मे मेत्तेय्य का भी उल्लेख उपलब्ध होता है। ये मेत्तेय्य आगामी पाँचवे कल्प मे होने वाले अजित बुद्ध माने गये है। महावश के अनागत वश मे इनका उल्लेख उपलब्ध होता है। इनके अतिरिक्त सुत्तनिपात[१४८] मे तिस्स के मित्र एक अर्हत् मेत्तेय्य थेर का भी उल्लेख उपलब्ध होता है। यद्यपि इन सब विवरणो के आधार पर यह कह पाना तो कठिन है कि मेत्तेज्ज भयालि और बौद्ध परम्परा के मेत्तेय्य का क्या सम्बन्ध है? बौद्ध परम्परा मे एक भद्दालि थेर का भी उल्लेख है। यद्यपि भद्दालि और भगालि मे भाषिक साम्यता होने पर भी दोनो मे किसी प्रकार की समानता बता पाना कठिन ही है।

१४. बाहुक

ऋषिभाषित के चौदहवे अध्याय मे अर्हत् ऋषि बाहुक के उपदेशो का सकलन मिलता है। बाहुक का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त सूत्रकृताङ्ग[१५०], सूत्रकृताङ्ग चूर्णी[१५१] और सूत्रकृताङ्ग पर शीलाकाचार्य[१५२] द्वारा लिखित टीका मे भी है। यद्यपि इन सभी सदर्भो मे हमे उनके जीवनवृत्त के बारे मे कुछ भी ज्ञात नही होता है। सूत्रकृताङ्ग नमि, नारायण, असित देवल, द्वैपायन, पाराशर

---

१४६ स्थानाङ्ग अभयदेवटीका पृ. १८२ एव ४७४

१४७ थेरगाथा ८४

१४८ सुत्तनिपात गाथा ८१४

१४९ ऋषिभाषित १४ वाँ अध्ययन

१५० सूत्रकृताङ्ग १/३/४/२

१५१ सूत्रकृताङ्ग चूर्णि पृ १२१

१५२ सूत्रकृताग शीलाक टीका पृ १५

आदि ऋषियो के उल्लेख के प्रसग मे ही बाहुक का भी उल्लेख करता है और यह बताता है कि अर्हत् प्रवचन मे मान्य इन बाहुक ऋषि ने सचित्त जल का सेवन करते हुए भी मुक्ति को प्राप्त किया। सूत्रकृताग चूर्णी मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इनका उल्लेख ऋषिभाषित मे है तथा इन प्रत्येकबुद्धो ने वन मे निवास करते हुए तथा वनस्पति, बीज और शीतल जल का सेवन करते हुए मुक्ति प्राप्त की। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि ऋषिभाषित और सूत्रकृताग मे उल्लिखित बाहुक एक ही व्यक्ति है। यद्यपि इनके जीवन/विवरण के सम्बन्ध मे इन ग्रन्थो मे कुछ भी प्राप्त नही होता है। ऋषिमण्डलवृत्ति मे भी इनके सम्बन्ध मे कोई विवरण उपलब्ध नही है, अत इनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध मे अधिक कुछ नही कहा जा सकता। स्थानाग सूत्र के अनुसार प्रश्नव्याकरणदशा का दसवा अध्याय वाहु से सम्बन्धित था। यद्यपि वर्तमान प्रश्नव्याकरणदशा मे स्थानाग मे उल्लिखित कोई भी अध्याय उपलब्ध नही है, किन्तु मैंने अपने एक स्वतन्त्र लेख मे इसे स्पष्ट किया है कि प्रश्नव्याकरण के प्राचीनतम सस्करण मे यह अध्याय रहा होगा और इसमे वाहुक के उपदेशो का सकलन भी रहा होगा।

ऋषिभापित मे प्रस्तुत बाहुक के उपदेशो का सारतत्त्व यही है कि युक्त बात भी यदि अयुक्त विचार के साथ की जाती है तो वह प्रमाण स्वरूप नही है। वस्तुतः इस कथन का आशय यही है कि यदि दृष्टि या चिन्तन अशुद्ध है तो बाह्य क्रिया चाहे वह शुद्ध या नैतिक प्रतीत होती हो, अनैतिक ही मानी जायेगी। इस अध्याय मे मुख्य रूप से अनासक्ति पर बल देते हुए बताया गया है कि निष्काम भाव से जो भी साधना की जाती है, वही मुक्ति की दिशा मे ले जाती है। सकाम भाव से किया गया तपश्चरण आदि भी नरक का कारण है। इस प्रकार बाहुक अनासक्त दर्शन के प्रतिपादक प्रतीत होते है।

बौद्ध परम्परा[१५३] मे बाहुक का नाम तो उपलब्ध नही होता, किन्तु बाहीक या बाही का उल्लेख मिलता है। यद्यपि आज यह कहना कठिन है कि यह बाहीक और ऋषिभाषित के बाहुक एक ही है, क्योकि बौद्ध परम्परा मे इन्हे बुद्ध के अनुयायी के रूप मे ही विवेचित किया गया है, अत इस सम्बन्ध मे निश्चयात्मक रूप से कुछ कह पाना कठिन है।

जहाँ तक वैदिक परम्परा[१५४] का प्रश्न है उसमे बाहुव्रक्त नामक ऋषि का उल्लेख है। इन्होने ऋग्वेद के कुछ सूत्र बनाये थे, ऐसा माना जाता है, फिर भी इनकी ऋषिभाषित के बाहुक से समानता खोज पाना कठिन है। महाभारत[१५५] मे

---

१५३ पालि प्रापर नेम्स जिल्द २ पृ २८१–८३

१५४ वैदिक कोश पृ ३३४ (का हि वि वि १९३३)

१५५ महाभारत की नामानुक्रमणिका पृ २१६

भी बाहुक का उल्लेख है। वहाँ उन्हे वृष्णि-वंशी वीर के रूप मे प्रकट किया गया है। महाभारत मे ही महाराजा सगर के पिता को भी वाहुक कहा गया है। इसी प्रकार राजा नल का भी एक नाम बाहुक था, किन्तु ये सारे साक्ष्य हमे इस निष्कर्ष पर पहुँचाने मे सहायक नही होते कि इनका ऋषिभापित मे उल्लिखित वाहुक के साथ कोई सम्बन्ध था। यह विपय अभी गवेषणात्मक है। विद्वानो से अपेक्षा है कि वे इस सम्बन्ध मे विशेप खोज करने का प्रयास करेंगे।

१५. मधुरायण

ऋषिभापित[१५६] का १५वा अध्ययन मधुरायण अर्हत् ऋपि से सम्बन्धित है। मधुरायण का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त जैन और बौद्ध परम्परा मे अन्यत्र उपलब्ध नही है। अत इनके जीवन और व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे स्पष्ट रूप से कुछ कह पाना कठिन है। प्रस्तुत अध्याय मे अनेक शब्द विशिष्ट अर्थो मे प्रयुक्त हुए है, अत जब तक उनके उन विशिष्ट अर्थो को स्पष्ट नही कर लिया जाता तब तक मधुरायण के उपदेशो को सम्यक् प्रकार से नही समझा जा सकता।

प्रस्तुत अध्याय के अर्थ के सन्दर्भ मे न तो ऋषिभापित के सस्कृत टीकाकार स्पष्ट हैं, और न उसके आधार पर मनोहर मुनि ने जो हिन्दी अनुवाद किया है वह भी अधिक स्पष्ट है। प्रस्तुत सस्करण का हिन्दी और अग्रेजी अनुवाद भी भ्रान्ति रहित नही है। यद्यपि शुब्रिग ने अपने टिप्पण मे तथा मनोहर मुनिजी ने अपनी व्याख्या मे उसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि उन्होने यह भी स्वीकार किया है कि इस 'अध्याय' का विषय अस्पष्ट है। मेरी दृष्टि मे इस अध्याय के विषय को स्पष्ट करने के लिए इस अध्याय मे प्रयुक्त कुछ विशिष्ट शब्दो को स्पष्ट करना होगा। इस अध्याय के मुख्यत तीन शब्द 'सातादुक्ख' 'दुक्ख' और 'सत' ये तीन शब्द ऐसे हैं जो अपने अर्थ का स्पष्टीकरण चाहते है। जहाँ तक 'सातादुक्ख' के अर्थ का प्रश्न है सस्कृत टीकाकार और अन्य सभी ने उसे सुख से उत्पन्न दु ख माना है। वस्तुत सुख का तात्पर्य यहाँ सुख की आकाक्षा ही लेना होगा। अत 'सातादुक्ख' का तात्पर्य है सुख की आकाक्षा से उत्पन्न दु ख। दूसरे शब्दो मे सासारिक सुखो की प्राप्ति के लिए जिस व्यक्ति मे आकाक्षाये जागृत हो वह व्यक्ति सातादु ख अभिभूत कहा जा सकता है। दूसरे शब्दो मे सुख की आकाक्षा ही सातादु ख है। इसके विपरीत अशाता दु ख से अभिभूत व्यक्ति का दु ख है · निरा-काक्ष होने के कारण स्वाभाविक रूप से प्राप्त सांसारिक दु ख। साता दु ख का यह अर्थ करने पर प्रथम प्रश्न और उत्तर इस प्रकार बनता है —क्या सुख की आकाक्षा से उत्पन्न दु ख से अभिभूत व्यक्ति दु ख को प्रेरित करता है? या निमन्त्रित करता है?

---

१५६ ऋपिभापित १५वाँ अध्ययन

या निराकाक्ष कष्टो का जीवन जीने वाला व्यक्ति दु'खो को निमन्त्रित या प्रेरित करता है ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि सुख की आकाक्षा से उत्पन्न दु खो से अर्थात् सासारिक वासना के पीछे पागल व्यक्ति ही दु खो को आमन्त्रित करता है। स्वाभाविक दु खो से घिरा होने पर भी निराकाक्ष व्यक्ति दु खो को आमन्त्रित नही करता अर्थात् कर्म बन्ध नही करता। वस्तुत. सुख की आकाक्षा करना ही दु खो को निमन्त्रण देना है। सुख की आकाक्षा से दुःखी बना व्यक्ति ही दु खो को निमन्त्रित करता है, न कि कष्ट जन्य दु खो से घिरा व्यक्ति। इस प्रकार मधुरायण सासारिक सुखो की आकाक्षा मे ही दु खो का मूल देखते है।

पुन. 'सत' शब्द यहाँ 'शान्त' के अर्थ मे न होकर सत्ता के अर्थ मे होगा। 'सत दुक्खी' का अर्थ यहाँ होगा दु खी होकर। पुन यहाँ दु खी होने का अर्थ कामना या आकाक्षा से युक्त होना ही है। अत' 'सत दुक्खी दुक्ख उदीरेइ' से अभिप्राय दु खी होकर ही दु ख को निमन्त्रण दिया जाता है। अर्थात् साकाक्ष व्यक्ति ही दु ख का प्रेरक होता है। इसी प्रकार 'नो असत दुक्खी दुक्ख उदेरइ' दु ख से दु खित न होकर दु ख को निमन्त्रण नही दिया जाता अर्थात् जो व्यक्ति निराकाक्ष है वह दु ख का प्रेरक नही होता है।

इसके पश्चात् इस अध्याय मे मुख्य रूप से पाप को अनिर्वाण और ससार भ्रमण का कारण बताते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रकार बीज के होने पर अकुरण स्वाभाविक है उसी प्रकार पापो के होने पर भी दु ख का होना स्वाभाविक है। अन्त मे यह कहा गया है कि आत्मा ही अपने कर्मों का कर्त्ता है और अपने कर्मों का भोक्ता है। इसलिए साधक को आत्मार्थ के लिए पाप-मार्ग का त्याग कर देना चाहिए। जिस प्रकार सपेरा साप के विष-दोष को समाप्त करता है उसी प्रकार साधक को दु खो के मूल को समाप्त करना चाहिए। मधुरायण की दृष्टि मे दु ख का मूल सुख (सासारिक सुखो) की आकाक्षा से रहित होना है।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते है कि प्रस्तुत अध्याय की विषय वस्तु की ऋषिभाषित के अन्य अध्यायो की विषय वस्तु से पर्याप्त समानता है। इस १५वे अध्याय की विषय वस्तु ९वे अध्याय के समान है। इस तथ्य को ग्रन्थकार ने भी 'णवमज्झयणगमरण्ण वणेयव्व' कहकर स्वीकार किया है।

बौद्ध और वैदिक परम्पराओ मे अन्यत्र इनका उल्लेख अनुपलब्ध होने से इनके सम्बन्ध मे तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत करना सम्भव नही है।

१६. शौर्यायण (सौरयायण)

ऋषिभाषित का १६वाँ अध्ययन[१५७] शौर्यायिण (सोरयायण) नामक अर्हत् ऋषि से सम्बन्धित है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त सोरिय का उल्लेख स्थानाग[१५८]

१५७ ऋषिभाषित १६वाँ अध्ययन

१५८ स्थानाग सूत्र ७५५

और विपाक सूत्र[१५९] मे भी मिलता है। विपाक सूत्र मे इनका सोरियदत्त नाम से उल्लेख हुआ है। स्थानाग की सूचना के अनुसार कर्म-विपाक दशा के सातवे अध्याय का नाम सोरिय है, किन्तु उपलब्ध विपाक सूत्र के आठवे अध्याय मे सोरियदत्त का उल्लेख मिलता है। इस अध्याय मे इन्हे सोरियपुर नगर के मछुआरे समुद्रदत्त का पुत्र कहा गया है। कथावस्तु के अनुसार एक बार इनके गले मे मछली का काँटा फस गया और अनेक प्रयत्नों के बाद भी इसे निकाला नही जा सका और इन्हे अति दु ख भोगना पडा। प्रस्तुत अध्याय मे उल्लिखित सोरियदत्त का ऋषि-भाषित के सोरियायण से इस आधार पर सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है कि सोरियायण ने अपने उपदेश मे मुख्य रूप से ऐन्द्रिक विषयो मे आसक्त न होने का उपदेश दिया है। यही बात प्रकारान्तर से विपाक दशा मे भी कही गयी है कि ऐन्द्रिक विपयो की पूर्ति मे फसकर ही जीव दारुण दु ख भोगता है।

प्रस्तुत अध्याय मे इन्द्रियों के वेग को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि व्यक्ति को श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शेन्द्रिय के मनोज्ञ विषय प्राप्त होने पर आसक्त, अनुरक्त और लोलुप नही होना चाहिये। ये दुर्दान्त इन्द्रियॉ ससार भ्रमण का कारण है। राग-द्वेष से छुटकारा पाने हेतु कछुए के समान इन दुर्दान्त इन्द्रियो का सगोपन करना चाहिए। मनोज्ञ विषयो के प्राप्त होने पर राग नही करना चाहिए और न अमनोज्ञ विषयो के प्राप्त होने पर द्वेषित होना चाहिए। जो मनोज्ञ विषयो के प्रति राग और अमनोज्ञ के प्रति द्वेष करता है वह पाप कर्म का बन्ध करता है। बौद्ध परम्परा[१६०] मे सोरिय का उल्लेख सोरेय्य के रूप मे मिलता है। वहाँ इन्हे श्रेष्ठिपुत्र कहा गया है। यद्यपि बौद्ध परम्परा मे सोरेय्य का जो उल्लेख है उसका जैन परम्परा के सोरिय से कोई निकट का सम्बन्ध नही देखा जा सकता। वैदिक परम्परा[१६१] मे हमे शौरि का उल्लेख शूरसेन के पुत्र के रूप मे (द्रोण पर्व १४४/७) मिलता है। इनका तादात्म्य वसुदेव से बताया गया है, जो कृष्ण के पिता कहे गये हैं, तव भी यह कह पाना कठिन है कि ऋषिभाषित के सोरियायण, पालि साहित्य के सोरेय्य और महाभारत के शौरि एक ही व्यक्ति है या भिन्न व्यक्ति हैं। अपने नाम के आधार पर ये शूरषेण देश से सम्वन्धित रहे होगे इतना माना जा सकता है। वृहदारण्यकोपनिषद्[१६२] मे आचार्यों की सूचि मे काषायन के शिष्य सौकरायण का नाम आता है, सम्भव है कि प्राकृत मे यही सोरियायण वन गया हो।

---

१५९ विपाक सूत्र २९

१६० धम्मपद अट्ठकथा भाग १ पृ ३२४ टिप्पणी।

१६१ महाभारत द्रोणपर्व १४४/७

१६२ वृहदारण्यकोपनिपद् ४/६/२

१७. विदुर

ऋषिभाषित[163] के १७वे अध्याय मे विदु (विदुर) के उपदेशो का सकलन है। ऋषिभाषित मे इन्हे अर्हत् ऋषि कहा गया है। जैन साहित्य मे ऋषिभाषित के अतिरिक्त ज्ञाताधर्म कथा[164] मे भी विदुर का उल्लेख है। उसमे अर्जुन, भीमसेन, नकुल, सहदेव, दुर्योधन, गगेय आदि के साथ विदुर का भी नामोल्लेख मात्र है। इसके अतिरिक्त आगम साहित्य मे अन्यत्र कही विदुर का उल्लेख नही है।

प्रस्तुत अध्याय मे विदुर के उपदेश के सम्बन्ध मे सर्वप्रथम यह बताया गया है कि वही विद्या महाविद्या, या सर्व विद्याओ मे श्रेष्ठ विद्या है जो सभी दु खो से मुक्त करती है। पुन. यह कहा गया है कि जिस विद्या के द्वारा जीवो की गति एव आगति का, बन्धन और मुक्ति का तथा आत्मभाव का बोध होता है, वह विद्या दु खो से मुक्त कर सकती है। विदुर ऋषि का यह कथन उस औपनिषदिक कथन का ही रूप है जिसमे कहा गया है कि 'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात् वही विद्या है जो मुक्ति दिलाती है। पुन इसमे यह भी बताया गया है कि जिस प्रकार रोग का परिज्ञान और उसका सम्यक् निदान तथा उसकी औषधि का परिज्ञान सही चिकित्सा के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार मुक्ति के लिए ज्ञान आवश्यक है। इसके साथ ही इस अध्याय मे स्वाध्याय और ध्यान पर विशेष रूप से बल दिया गया है। यह भी कहा गया है कि जितेन्द्रिय साधक ससार-वास का समस्त प्रकार से परिज्ञान करके स्वाध्याय और ध्यान मे सलग्न होकर सावद्य प्रवृत्ति के कार्यो से विमुख होता हुआ निरवद्य प्रवृत्ति का आचरण करे। समस्त परकीय या वैभाविक दशाये सावद्य योग है, दुश्चरित्र है, ऐसा समझकर उनका आचरण न करे। जो साधक इस प्रकार से आचरण करता है वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होता है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय मुख्य रूप से सर्वप्रथम स्वाध्याय और ध्यान के साथ सम्यक् ज्ञान पर बल देता है और उसके साथ सावद्य या हिसक प्रवृत्तियो से विमुख होकर अहिसक प्रवृत्ति के आचरण का सन्देश देता है।

जैन परम्परा के अतिरिक्त बौद्ध परम्परा[165] मे भी हमे 'विधुर' (विदुर) का उल्लेख मिलता है। यद्यपि विधुर की जो कथा बौद्ध परम्परा मे उपलब्ध होती है उसका जैन और वैदिक परम्परा मे उपलब्ध विदुर की कथा से कोई साम्य नही है। बौद्ध परम्परा मे इन्हे ककुसन्ध बुद्ध के दो अग्र श्रावको मे एक माना गया है। मिलिन्द प्रश्न के अनुसार बोधिसत्त्व के एक जन्म का नाम विदुर था। इस प्रकार

---

१६३ ऋषिभाषित १७ वाँ अध्ययन

१६४ ज्ञाताधर्मकथा सूत्र ११७

१६५ देखें—डिक्शनरी आफ पालि प्रापर नेम्स (मलाल शेखर) खण्ड २, पृ ८८२, ८८३

बौद्ध परम्परा के विदुर सम्बन्धी इन कथानको का जैन परम्परा के इन विदुर से कोई साम्यता खोज पाना कठिन ही है ।

वैदिक परम्परा मे और विशेष रूप से महाभारत मे विदुर का विस्तार से उल्लेख प्राप्त होता हैं । इन्हे व्यास के द्वारा अम्बिका की दासी से उत्पन्न बताया गया है । इस प्रकार ये शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न ब्राह्मण पुत्र है । महाभारत के आदि पर्व तथा सभापर्व मे इनका विस्तार से उल्लेख मिलता है । महाभारत के स्त्री-पर्व[१६६] मे इनके उपदेश विस्तार से सकलित है । यदि हम इन उपदेशो को ध्यान पूर्वक देखे तो चाहे उनमे और ऋषिभाषित के उपदेशो मे कोई शाब्दिक समानता न हो, पर वैचारिक समानता स्पष्ट रूप से देखी जाती है । इस आधार पर यह माना जा सकता है कि महाभारत मे उल्लिखित विदुर और ऋषिभाषित के उल्लिखित विदुर एक ही व्यक्ति रहे होगे ।

१८. वारिषेण कृष्ण

ऋषिभाषित[१६७] का १८ वॉ अध्ययन वारिषेण कृष्ण (वरिसव कण्ह) के उपदेशो से सम्बन्धित है । वारिषेण का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरित स्थानाग[१६८] मे उपलब्ध होता है । समवायाग[१६९] मे चार जिन प्रतिमाओ ऋषभ और वर्धमान के साथ चन्द्रानन और वारिषेण का भी उल्लेख है । चन्द्रानन और वारिषेण को ऐरावत क्षेत्र का क्रमश प्रथम एव अन्तिम तीर्थङ्कर कहा गया है । इसके अतिरिक्त स्थानाङ्ग मे काश्यप गोत्र की एक शाखा 'वारिसकण्हा' कही गयी है । अन्तकृद्दशा[१७०] मे वारिषेण को वसुदेव का पुत्र कहा गया है तथा अन्तकृद् ऋषि कहा गया है । इससे इतना तो निश्चित हो जाता है कि ये कृष्ण के समकालीन और अरिष्टनेमि के युग के ऋषि है । किन्तु, ऋषिभाषित मे इनके नाम के साथ कण्ह (कृष्ण) शब्द विशेष विचार के लिए प्रेरित करता है । वसुदेव के पुत्र के रूप मे क्या ये स्वय कृष्ण तो नही थे ? प्रस्तुत अध्याय मे यह बतलाया गया है कि जो व्यक्ति प्राणातिपात से लेकर परिग्रह तक और अरति से लेकर मिथ्या-दर्शन शल्य तक के वर्ज्यो (अनाचरणीय कर्मो या पाप कर्मो) का सेवन करता है, वह हस्त-छेदन या पाद-छेदन आदि को प्राप्त होता है और जो इन वर्ज्यों (पापो) का सेवन नही करता है वह सिद्ध स्थान को प्राप्त करता है । ज्ञातव्य है कि हस्त-छेदन पादच्छेद आदि कथन ऋषिभाषित के अध्याय ९ एव १५ मे उल्लिखित है । अन्त मे यह कहा

---

१६६. महाभारत, स्त्रीपर्व अध्याय २ से ७

१६७ ऋषिभाषित अट्ठारहवाँ अध्ययन

१६८ स्थानाग सूत्र ६४३

१६९ सयवायाग सूत्र १५९

१७०. अन्तकृद्दशा ८

गया है कि जिस प्रकार शकुनि (पक्षी) फल को छेद डालता है और राज्य को खण्ड-खण्ड कर देता है या कमल पत्र जल से निर्लिप्त रहता है उसी प्रकार साधक को कर्मफल को छेदकर पाप कर्मो से निर्लिप्त रहना चाहिए।

महाभारत के भीष्मपर्व[१७१] मे कृष्ण का एक नाम वार्ष्णेय भी बताया गया है। वृष्णि वश का होने के कारण उन्हे वार्ष्णेय कहा गया है। उपनिषदो और ब्राह्मणो[१७२] मे भी वृष्णि वश के लोगो को वार्ष्णेय या वार्ष्ण्य कहा गया है। श्री कृष्ण वृष्णिवश से सम्बन्धित थे। यद्यपि वृर्ष्णि का प्राकृत वण्हि होता है 'वरिसव' का वारिषेण होता है। यद्यपि 'वरिस' से सस्कृत रूप वृष्णि की सम्भावना हो सकती है। इससे इतना तो निश्चित है कि ये कोई साधक ऋषि थे, जो अरिष्टनेमि के समकालीन थे। पाली साहित्य मे दीघनिकाय के अम्बट्ठ सुत्त मे कृष्ण ऋषि का उल्लेख है और अम्बट्ठ को इनकी परम्परा का बताया गया है। इसी प्रकार औपपातिक सूत्र मे ब्राह्मण परिव्राजको की एक शाखा को 'कण्ह' कहा गया है। यह सम्भव है कि 'वरिसव कण्ह' ही इस शाखाके प्रवर्तक हो। औपपातिक मे ब्राह्मण परिव्राजको की एक अन्य शाखा 'दीवायण कण्ह' (द्वैपायन कृष्ण) भी थी। अत प्रथम शाखा 'वरिसव कण्ह' से सम्बन्धित रही होगी।

१९. आरियायण

ऋषिभाषित[१७३] का १९ वाँ अध्ययन आरियायण नामक अर्हत् ऋषि से सम्बन्धित है। आरियायण का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त अन्यत्र कही उपलब्ध नही होता है। बौद्ध और वैदिक परम्पराये भी इनके सम्बन्ध मे मौन है। अत इनके व्यक्तित्व और ऐतिहासिकता के सम्बन्ध मे निर्णयात्मक रूप से कुछ कह पाना कठिन है। प्रस्तुत अध्याय मे यह कहा गया है कि सर्वप्रथम आर्य ही थे। पुन उपदेश के रूप मे यह बताया गया है कि अनार्य भाव, अनार्य कर्म और अनार्य मित्र का वर्जन करना चाहिए, क्योकि जो अनार्य भाव; अनार्य कर्म और अनार्य मित्र का ससर्ग करता है वह भवसागर मे परिभ्रमण करता है। इसके विपरीत जो आर्य-भाव, आर्य कर्म और आर्य मित्रो से युक्त होता है वह आर्यत्व को प्राप्त होता है। अन्त मे कहा गया है कि आर्य भाव, आर्य ज्ञान और आर्य चरित्र उचित है, अत. इनकी सेवा करना चाहिए।

इस सक्षिप्त उपदेश के अतिरिक्त इनके सम्बन्ध मे अन्य कोई जानकारी हमे उपलब्ध नही है।

---

१७१ भीष्म पर्व २७/३६

१७२ शतपथ ब्राह्मण ३, १, १, ४

१७३ ऋषिभाषित १९वाँ अध्ययन

२०. उत्कट (भौतिकवादी)

ऋषिभाषित के बीसवे अध्ययन[१७४] का नाम उत्कल या उत्कट है। इस अध्याय के प्रवक्ता के रूप मे किसी ऋषि के नाम का उल्लेख नही है। यद्यपि अध्याय के अन्त मे दूसरे अध्यायो के समान ही 'एव सिद्धे वुद्धे...... ...त्तिवेमि' कहा गया है, किन्तु इस कथन का पूर्व कथन से कोई सम्बन्ध सिद्ध नही होता है। मात्र अन्य अध्यायो की शैली मे ही यह वाक्याश यहाँ रख दिया गया है। वस्तुत. प्रस्तुत अध्याय मे भौतिकवादी सिद्धान्तो का प्रतिपादन होने से इसके प्रवक्ता के रूप मे किसी ऋषि का उल्लेख नही किया गया। इस अध्याय मे पाँच प्रकार के उत्कट बताये गये है—दण्डोत्कट, रज्जूत्कट, स्तेनोत्कट, देशोत्कट और सर्वोत्कट। सर्वप्रथम इस सन्दर्भ मे उत्कट शब्द का अर्थ विचारणीय है। वैसे तो उत्कट शब्द के अनेक अर्थ होते है, किन्तु यहाँ उत्कट का उन्मत्त या विषम अर्थ करना ही उचित होगा। उत्कट का एक अर्थ मदिरा भी है। वस्तुत: भौतिकवादी जीवन-दृष्टि अध्यात्मवाद की विरोधी थी, इसलिए उसे उत्कट कहा गया। यह भी सम्भव है कि भौतिकवादी दृष्टिकोण को मानने वाले लोगो को अध्यात्मवादियो ने उन्मत्त कहा हो। चूकि भौतिकवादी मद्य आदि का सेवन करते थे और उसे अनुचित नही मानते थे, इसलिए भी उन्हे उत्कट कहा गया हो। यह भी सम्भव है कि मूल प्राकृत शब्द उक्कल का सस्कृत उत्कुल होगा। सस्कृत मे उत्कुल शब्द पतित या घृणित कुल के अर्थ मे आता है। यदि इसे उत्कुल माने तो इसका अर्थ होगा—किनारे से वाहर निकल कर वहने वाला अर्थात् वे व्यक्ति जो अध्यात्मवादी धारा से भिन्न मत का प्रतिपादन करते थे, उत्कुल कहे जाते होगे।

प्रस्तुत अनुवाद मे जो उत्कल रूप का प्रयोग किया गया है वह मेरी दृष्टि मे उचित नही है, उसे या तो उत्कट होना चाहिए या उत्कुल या उत्कूल। प्रस्तुत अध्याय मे जो पाँच प्रकार के उत्कट कहे गये है वे वस्तुतः पाँच प्रकार की भौतिकवादी दृष्टिया है, जो विभिन्न उदाहरणो के आधार पर अपने भौतिकवादी मान्यताओ को प्रतिपादित करती है।

दण्डोत्कट वे व्यक्ति है जो दण्ड के दृष्टान्त द्वारा यह प्रतिपादित करते है कि जिस प्रकार दण्ड के आदि, मध्य और अन्तिम भाग पृथक्-पृथक् नही रहते है, वह समुदाय मात्र है, उसी प्रकार शरीर से पृथक् कोई आत्मा नही है।

रज्जूत्कट वे है जो यह मानते है कि जिस प्रकार रस्सी विभिन्न तन्तुओ का समुदाय मात्र है, उसी प्रकार जीव भी पाँच महाभूतो का समुदाय मात्र है और इनके अलग-अलग होने पर जीवन का भी उच्छेद हो जाता है।

---

१७४ ऋषिभाषित २०

स्तेनोत्कट वे है जो अन्य शास्त्रो मे प्राप्त दृष्टान्तो को अपने पक्ष मे व्याख्यायित कर अपने ही कथन को सत्य मानते है। इस प्रकार दूसरे की मान्यताओ का खण्डन करके उनके प्रति असहिष्णु होते है। इस स्तेनोत्कटवाद के विरोध मे ही आगे चल कर निर्ग्रन्थ परम्पराओ मे अनेकान्तवाद का विकास हुआ होगा, क्योकि यहाँ 'मेरा कथन ही एकमात्र सत्य है' यह मानने वाले को दूसरो के प्रति करुणा का अपलापक कहा गया है।

देशोत्कट उन्हे कहते है जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी उसे अकर्त्ता आदि कहते है। वस्तुत आत्मा को अकर्त्ता मानने पर पुण्य, पाप, बन्धन आदि की व्यवस्था नही बन पाती है। इसलिए इस प्रकार के विचारको को देशोत्कट या आशिक रूप से भौतिकवादी कहा गया है।

इसी प्रकार सर्वोत्कट वे विचारक है जो तत्त्व की सत्ता को अस्वीकार करते हुए अभाव से ही सभी उत्पत्ति को सम्भव मानते है और यह कहते हैं कि कोई भी तत्त्व ऐसा नही है जो सर्वथा सर्वकालो मे अस्तित्व रखता हो। इस प्रकार ये सर्वोच्छेदवाद का प्रतिपादन करते हैं, अत इन्हे सर्वोत्कट कहा जाता है।

उक्त पाँच प्रकार के उत्कटो अर्थात् भौतिकवादियो की चर्चा करने के पश्चात् सामान्य रूप से भौतिकवाद के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते हुए शरीर से पृथक् किसी आत्मा की सत्ता को अस्वीकार किया गया है और यह कहा गया है कि शरीर का विनाश होने पर पुन शरीर की उत्पत्ति नही होती अर्थात् पुनर्जन्म नही होता। यही जीवन एकमात्र जीवन है। न तो परलोक है, न सुकृत-दुष्कृत कर्मो का फल, होता है, न तो पुनर्जन्म है और न पुण्य-पाप का फल ही है। पैर से लेकर केशाग्र तक जो शरीर है, वही जीव है। जिस प्रकार दग्ध बीजो से अकुर नही निकलते उसी प्रकार शरीर के नष्ट हो जाने पर पुन शरीर की उत्पत्ति नही होती।

इस प्रकार यह अध्याय विशुद्ध रूप से भौतिकवादी दृष्टि प्रस्तुत करता है जिसे भारतीय दर्शन मे चार्वाक दर्शन के नाम से जाना जाता है। वैसे इस प्रकार की भौतिकवादी दृष्टि का उल्लेख प्राचीन जैन, बौद्ध और वैदिक साहित्य मे हमे विस्तार से उपलब्ध होता है। इस अध्याय मे प्रतिपादित विचार हमे सूत्रकृताङ्ग[१७५] और राजप्रश्नीय[१७६] मे उपलब्ध होते है। इसी प्रकार बौद्ध परम्परा मे पयासीसुत्त[१७७] मे भी इसी प्रकार के विचारो का प्रतिपादन मिलता है। अत यह अध्याय उस युग मे प्रचलित भौतिकवादी जीवन दृष्टि का परिचायक कहा

---

१७५ सूत्रकृताङ्ग १/१/१/१२/

१७६ राजप्रश्नीय १६७–१८०

१७७ दीघनिकाय खण्ड २ पयासिराजञ्ञसुत्त (पालि पब्लिकेशन बोर्ड १९५८)

जा सकता है। समवायाङ्ग[१७८] मे ऋषिभाषित के ४४ अध्यायो का उल्लेख है। सम्भव है कि यह अध्याय ऋषिभाषित मे बाद मे जोडा गया हो, क्योकि यही एकमात्र ऐसा अध्याय है जो अध्यात्मवाद के प्रतिपादक ४४ अध्यायो मे भिन्न है। भौतिकवादियो के लिए उत्कट शब्द का प्रयोग इसकी अपनी विशेषता है। इसी प्रकार भौतिकवादियो के इसमे जो दण्डोत्कट, रज्जूत्कट, स्तेनोत्कट, देशोत्कट और सर्वोत्कट ऐसे पाँच विभाग किये गये हैं वे भी अन्यत्र कही उपलब्ध नही होते हैं। अत यह ऋषिभाषित की अपनी विशेषता है। भारतीय दर्शन के ग्रन्थो मे देहात्म-वादी, इन्द्रियात्मवादी, प्राणात्मवादी, मनो आत्मवादी आदि जो प्रकार बताये गये हैं इनसे भिन्न ही है।

२१. गाथापति पुत्र तरुण

ऋषिभाषित[१७९] का २१वाँ अध्याय गाथापति पुत्र तरुण के उपदेशो से सम्बन्धित है। गाथापति पुत्र तरुण का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त न तो जैन साहित्य मे कही उपलब्ध होता है और न बौद्ध और हिन्दू परम्परा मे ही कही इनका उल्लेख मिलता है। ऋषिभाषित मे इनका मूलभूत उपदेश ज्ञानमार्ग का प्रतिपादक है। इनके अनुसार अज्ञान ही परम दु.ख है, वही भय का कारण है और ससार अज्ञान मूलक है अर्थात् अज्ञान के कारण ही प्राणी ससार मे परिभ्रमण करता है। वे स्वय कहते है कि पहले मैं अज्ञान के कारण न जानता था, न देखता था, न समझता था। किन्तु अब मै ज्ञानवान होकर जानता हूँ, देखता हूँ, और समझता हूँ। पूर्व मे अज्ञान के कारण मैंने काम के वशीभूत होकर अनेक अकृत्य और अकरणीय कार्य किये, किन्तु अब ज्ञान युक्त होकर, समस्त दु खो का अन्त कर शिव एव अचलस्थान अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करूँगा।

प्रस्तुत अध्याय मे उदाहरण देकर यह बताया गया है कि अज्ञान के कारण किस प्रकार मृग, पक्षी और हाथी पाश मे बाँधे जाते है और मत्स्यो के कण्ठ बीधे जाते है। किस प्रकार अज्ञान के कारण पतगा दीपक पर गिरकर जल मरता है। अज्ञान के कारण ही वृद्ध सिह जल मे अपनी परछायी को सिह समझकर अपना प्राणान्त कर लेता है। इसी प्रकार अज्ञान से विमोहित होकर माता भद्रा अपने ही पुत्र सुप्रिय का भक्षण करती है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय मे अज्ञान के दुष्प्रभावो को दिखाकर ज्ञानमार्ग के अनुसरण की शिक्षा देते हुए कहा गया है कि ज्ञान के सुयोग से ही औषधियो का विन्यास, सयोजन और मिश्रण तथा विद्याओ की साधना सफल होती है। इन कथनो से यह फलित होता है कि गाथापति पुत्र तरुण

---

१७८ समवायाङ्ग–समवाय ४४

१७९ ऋषिभाषित २१वाँ अध्ययन

ज्ञानमार्ग की परम्परा के कोई ऋषि रहे होंगे । जैन और बौद्ध तथा वैदिक परम्परा मे इनके सम्बन्ध मे कोई सूचना नही मिलने से इनके विषय मे अधिक कुछ कह पाना सम्भव नही है। यद्यपि इसकी जल मे अपनी परछाई को ही दूसरा सिह समझकर, कुए मे कूदकर सिंह के प्राणान्त की कथा पञ्चतन्त्र मे भी उपलब्ध है।[१८०] इससे पचतन्त्र की कथा और ऋषिभाषित दोनो की प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है।

२२. गर्दभाल (दगभाल)

ऋषिभाषित[१८१] का बाइसवा अध्याय गर्दभाल ऋषि से सम्बन्धित है। जहॉ तक गर्दभाल ऋषि के व्यक्तित्व का प्रश्न है, ऋषिभाषित के अतिरिक्त उत्तराध्ययन सूत्र[१८२] (१८/१९, २२) मे भी उनका उल्लेख प्राप्त होता है। इसमे उन्हे सजय का गुरु या आचार्य तथा भगवान् और विद्याचरणपारगा कहा गया है। इससे उनका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार ऋषिभाषित के सजय और गर्दभिल्ल दोनो के ऐतिहासिक व्यक्ति होने की पुष्टि उत्तराध्ययन सूत्र से हो जाती है। जैन परम्परा मे इनके अतिरिक्त आचार्य कालक के समकालीन अवन्ति के राजा गर्दभिल्ल का भी उल्लेख मिलता है, जिन्होने कालक की बहन साध्वी सरस्वती का अपहरण किया था। किन्तु, ये गर्दभिल्ल भिन्न व्यक्ति है। इस सम्बन्ध मे सन्देह का कोई अवकाश नही है कि उत्तराध्ययन सूत्र और ऋषिभाषित के गद्दभाल/दगभाल एक ही व्यक्ति है।

जहाँ तक ऋषिभाषित मे वर्णित इनके उपदेश का प्रश्न है उसमे प्रथम तो ये यह बताते हैं कि कर्म हिसा से युक्त (परिशात) होते है, किन्तु बुद्ध हिसा से रहित होते है और इसीलिये वे पुष्करणि मे रहे कमल पत्र की तरह रज (कर्म रज) से लिप्त नही होते है। इसके पश्चात् समग्र अध्याय पुरुष की प्रधानता और नारी की निन्दा से भरा हुआ है। सर्वप्रथम पुरुष की प्रधानता के सम्बन्ध मे कहा गया है कि सभी धर्म पुरुष से प्रारम्भ होते है और पुरुष प्रवर, पुरुष ज्येष्ठ, पुरुष आश्रित, पुरुष प्रकाशित, पुरुष समन्वित और पुरुष केन्द्रित होते है। जिस प्रकार व्रण शरीर आश्रित होते है, वाल्मीक पृथ्वी आश्रित होते हैं, कमल जल आश्रित होते है और अग्नि अरणी (वृक्ष विशेष की लकडी) के आश्रित होती है, इसी प्रकार धर्म पुरुष के आश्रित होते हैं। द्रष्टव्य यह है कि यहॉ ऋषिभाषित के सस्कृत टीकाकार एव शुब्रिग ने तथा प्रस्तुत अनुवादक ने धर्म का तात्पर्य ग्राम्यधर्म अर्थात् मैथुनाभिलाष बताया है, किन्तु मेरी दृष्टि मे यहाँ धर्म इस अर्थ मे नही है, अपितु धर्म धार्मिक परम्पराओ या धार्मिक सम्प्रदायो के ही अर्थ मे प्रयुक्त है। जैन धर्म मे दस कल्पो मे पुरुष ज्येष्ठ

---

१८०. पचतन्त्र पृ ९७–१०५ (चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी १९८५)
१८१. ऋषिभाषित २२वाँ अध्ययन
१८२. उत्तराध्ययन १८/१९,२२

कल्प है, जो यह मानता है कि धार्मिक व्यवस्थाओ के सदर्भ मे पुरुष ही प्रधान है और सौ वर्ष की दीक्षित आर्या के लिये भी सद्य दीक्षित पुरुष वदनीय है। इस प्रकार इसमे पुरुष की ज्येष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। पुरुष के इस ज्येष्ठता की व्यवस्था बुद्ध ने भी अपनी सघ व्यवस्था मे स्वीकार की थी, अत धर्म शब्द का अर्थ धर्म सघ ही लेना चाहिए, न कि आचाराङ्ग आदि की शैली पर ग्राम्य-धर्म अर्थात् कामवासना को।

अध्याय की अग्रिम गाथाओ मे जो नारी निन्दा की गयी है, उससे भी स्पष्ट होता है कि यहाँ धार्मिक व्यवस्थाओ के सदर्भ मे स्त्री की अपेक्षा पुरुष की प्रधानता स्थापित की गई है। नारी-निन्दा करते हुए इस अध्याय मे कहा गया है कि वे ग्राम और नगर धिक्कार के योग्य है, जहाँ महिला शासन करती हो। इसी प्रकार वे पुरुष भी धिक्कार के योग्य है, जो नारी के वश मे रहते है। नारी सिह युक्त स्वर्णगुफा, विषयुक्त पुष्प माला और भवरो से युक्त नदी के समान है। वह मदोन्मत्त वना देने वाली मदिरा है। जिस ग्राम और नगर मे स्त्रिया बलवान है, बेलगाम घोडे की तरह स्वच्छद है, वे ग्राम और नगर अपर्व के दिनो मे मुण्डन के समान है, अर्थात् निन्दनीय है। इससे यह स्पष्ट है कि गर्दभिल्ल ऋषि पुरुष की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता के प्रतिपादक थे। यद्यपि प्रस्तुत अध्याय की एक गाथा ऐसी अवश्य है, जिसमे स्त्री की प्रशसा मिलती है। इसमे कहा गया है कि स्त्री सुदिव्य कुल की प्रशस्ति, मधुर जल, विकसित रम्य कमलिनी और सर्पवेष्टित मालती लता के समान है। यद्यपि इस प्रशसा के अन्त मे भी सर्पवेष्टित मालती लता कह कर उसे वर्जनीय ही वताया गया है।

इस अध्याय के अन्त मे वन्धन के कारणो के सम्यक् परिज्ञान की शिक्षा देते हुए अन्त मे ध्यान मार्ग का प्रतिपादन किया गया है। वे अन्त मे कहते है कि जिस प्रकार शरीर मे मस्तक और वृक्ष के लिये जड आधारभूत है उसी प्रकार समस्त मुनियो के लिये ध्यान आधारभूत है। उत्तराध्ययन मे गर्दभिल्ल के सम्वन्ध मे जो विशेषण प्रयुक्त है, वे भी उनके ध्यान मार्ग की परम्परा से सम्वन्धित होने के तथ्य की पुष्टि करते हैं। उनमे उन्हे तपोधन, स्वाध्याय और ध्यान से सयुक्त धर्मध्यान का ध्याता कहा गया है (१८/४)।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर वौद्ध परम्परा मे हमे गर्दभिल्ल का कही उल्लेख नही मिलता, किन्तु वैदिक परम्परा मे वृहदारण्यक उपनिषद् मे जनक के समकालीन गर्दभी विपीत या गर्दभी विभीत नामक एक आचार्य का उल्लेख मिलता है।[१८३] यद्यपि साक्ष्यो के अभाव मे आज यह कह पाना कठिन है कि वृहदारण्यक उपनिषद् के गर्दभी विभीत और ऋषिभाषित के दगभाल-गद्दभाल एक ही व्यक्ति है।

---

१८३ वृहदारण्यकोपनिषद् ४/१/५

महाभारत के अनुशासन पर्व[१८४] मे विश्वामित्र के एक ब्रह्मवादी पुत्र के रूप मे गर्दभी का उल्लेख मिलता है। उसमे उन्हे ब्रह्मवादी और महान् ऋषि कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि ये उस युग के एक प्रभावशाली ऋषि थे। यद्यपि उसमे इन्हे विश्वामित्र का पुत्र कहा गया है, यह मुझे समुचित नही लगता है, क्योकि न केवल इन्हे अपितु गार्गि, याज्ञवल्क्य, नारद, कपिल आदि को भी विश्वामित्र के पुत्र के रूप मे उल्लिखित किया गया है, जो सत्य प्रतीत नही होता। एक सभावना अवश्य प्रकट की जा सकती है कि ये विश्वामित्र की शिष्य परम्परा मे रहे हो। फिर भी इतना अवश्य कह सकते है कि गर्दभिल्ल या गार्दभि एक ऐतिहासिक ऋषि रहे होगे और सभवत ये औपनिषदिक काल के ही ऋषि होगे।

२३. रामपुत्त

ऋषिभाषित[१८५] के २३ वे अध्याय मे रामपुत्त के उपदेशो का सकलन है। सूत्रकृताङ्ग[१८६], स्थानाङ्ग[१८७] और अनुत्तरोपपातिक[१८८] मे भी इनका उल्लेख मिलता है। सूत्रकृताङ्ग[१८९] मे उनका उल्लेख असित देवल, नमि, नारायण, बाहुक, द्वैपायन, पाराशर आदि के साथ हुआ है और इन्हे निर्ग्रन्थ प्रवचन मे मान्य (इह सम्मता) कहा गया है और बताया गया है कि इन्होने आहार आदि सेवन करते हुए मुक्ति प्राप्त की। ज्ञातव्य है कि सूत्रकृताङ्ग की कुछ मुद्रित प्रतियो एव शीलाङ्क की टीका मे रामगुत्त पाठ भी मिलता है, किन्तु यह पाठ अशुद्ध है। सूत्रकृताङ्ग चूर्णी मे जो 'रामाउत्ते' पाठ है वही शुद्ध है और उसका सस्कृत रूप 'रामपुत्र' बनता है। इस सम्बन्ध मे प 'बेचरदास दोशी स्मृतिग्रन्थ' मे मेरा और प्रो एम ए ढाकी का एक लेख प्रकाशित है, जिसमे यह सिद्ध किया गया है कि यह पाठ क्यो शुद्ध है। सूत्रकृताङ्ग के अतिरिक्त स्थानाङ्ग की सूचना के अनुसार अन्तकृत्दशा की प्राचीन विषय वस्तु मे एक रामपुत्त नामक अध्ययन था, जो वर्तमान अन्तकृत्दशा मे अनुप-

---

१८४ महाभारत अनुशासन पर्व ४/१

१८५ ऋषिभाषित २३वाँ अध्ययन

१८६ सूत्रकृताग १/३/४/२,३

१८७ स्थानाङ्ग ७५५

१८८ अनुत्तरोपपातिक ३/६

१८९ सूत्रकृताङ्ग शीलाङ्क वृत्ति खण्ड 2 पृ ७३ (म जै ज्ञानोदय सोसा राजकोट)।
अभुजिया नमी विदेही, रामगुत्ते य भुजिआ।
बाहुए उदग भोच्चा, तहा नारायणे रिसी।
असित्ते देविले चेव दीवायण महारिसी।
पारासरे दग भोच्चा, बीयाणि हरियाणि य॥

लब्ध है। सभवत इस अध्याय मे रामपुत्त के जीवन एव उपदेशो का सकलन रहा होगा। इसके अतिरिक्त अनुत्तरोपपातिक के तीसरे वर्ग का छठा अध्याय भी रामपुत्त से सम्बन्धित है। यहाँ इन्हे साकेत निवासी और महावीर का समकालीन कहा गया है। इन दो तथ्यो के अतिरिक्त उसमे उपलब्ध अन्य विवरणो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे कहना कठिन है। सूत्रकृताङ्ग और ऋषिभाषित दोनो से ही यह सिद्ध हो जाता है कि रामपुत्त मूलत निर्ग्रन्थ परम्परा के नही थे, फिर भी उसमे उन्हे सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था।

बौद्ध परम्परा मे भी हमे रामपुत्त का उल्लेख मिलता है। पालि त्रिपिटक[१६०] के उल्लेखो के अनुसार इनका पूरा नाम उद्दक रामपुत्त था। ये बुद्ध से आयु मे बडे थे। प्रारम्भ मे बुद्ध ने इनसे ध्यान-साधना की शिक्षा ली थी, किन्तु जब बुद्ध ज्ञान प्राप्त कर, इन्हे पात्र जान कर उपदेश देने जाने को तत्पर हुए तो इन्हे ज्ञात हुआ कि इनकी मृत्यु हो चुकी है। इस प्रकार ये महावीर और बुद्ध के ज्येष्ठ समकालीन थे। पाली त्रिपिटक से यह भी ज्ञात होता है कि इनकी योगसाधना की अपनी विशिष्ट पद्धति थी और पर्याप्त सख्या मे इनकी शिष्य-सम्पदा भी थी। बुद्ध का इनके प्रति समादर भाव था।

प्रस्तुत अध्याय मे रामपुत्त का उपदेश गद्य रूप मे मिलता है। सर्वप्रथम इसमे दो प्रकार के मरणो का उल्लेख है—सुखपूर्वक मरण (समाधिपूर्वक मरण) और दु खपूर्वक मरण (असमाधि पूर्वक मरण)। पुन इसमे यह भी बताया गया है कि ससार के बन्धनो से मुक्ति के लिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र का पालन करना चाहिए। साधक ज्ञान के द्वारा जाने, दर्शन के द्वारा देखे, चारित्र के द्वारा सयम करे और तप के द्वारा अष्टविध कर्मरज का विधुनन करे।

प्रस्तुत अध्याय की विचारधारा का विकसित रूप हमे उत्तराध्ययन जैसे प्राचीन आगम ग्रन्थ मे भी मिलता है। उत्तराध्ययन के पाँचवे अध्याय मे मरण के इन दो प्रकारो की विस्तृत चर्चा है, साथ ही उसके २८ वें अध्याय मे ज्ञान के द्वारा जानने, दर्शन के द्वारा श्रद्धा करने, चारित्र के द्वारा परिग्रहण और तप द्वारा परिशोधन की वात कही गयी है। उत्तराध्ययन भी तप के द्वारा अष्टविध कर्मो के निर्जरा की वात कहता है, फिर भी ऋषिभाषित का यह पाठ उत्तराध्ययन की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। चूकि इसकी भाषा उत्तराध्ययन की अपेक्षा प्राचीन शैली की है। दूसरे इसमे 'दसणेण सद्दहे' के स्थान पर 'दसणेण पासित्ता' पाठ मिलता है, जो अधिक प्राचीन है, क्योकि जैन परम्परा मे दर्शन शब्द का श्रद्धापरक अर्थ एक परवर्ती

---

१६० (अ) जातक खण्ड १ पृ ६६,८१ (Edited by Fansboll)

(व) पालि त्रिपिटक के अन्य सन्दर्भो के लिये देखिये–Dictionary of pali proper Names by J P Malal Sekhar, 1937, Vol. I, P 382–83

घटना है। आचाराङ्ग मे दर्शन देखने के अर्थ मे आता है जबकि सर्वप्रथम उत्तराध्ययन मे दर्शन का अर्थ श्रद्धा किया गया है। पुन इससे ऐसा लगता है कि वर्तमान मे जैन परम्परा मे आज कर्म की जो अवधारणा है, उसका मूल भी रामपुत्त के दर्शन मे रहा होगा। इन आधारो से यह निश्चित होता है कि रामपुत्त महावीर एव बुद्ध से ज्येष्ठ श्रमण परम्परा के प्रतिष्ठित आचार्य थे, साथ ही ऋषिभाषित, सूत्रकृताङ्ग और पालित्रिपिटक के रामपुत्त एक ही व्यक्ति है। इन्हे उद्दक-रामपुत्त भी कहा गया है।

२४. हरिगिरि

ऋषिभाषित[१६१] के चौबीसवे अध्ययन मे हरिगिरि के उपदेशो का सकलन है। इन्हे अर्हत् ऋषि कहा गया है। हरिगिरि के सम्बन्ध मे हमे ऋषिभाषित के अतिरिक्त अन्य स्रोतो से कोई सूचना उपलब्ध नही होती। अत इनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे अधिक कह पाना कठिन है। जहाँ तक इनके उपदेशो का प्रश्न है सर्वप्रथम ये कहते है कि पहले सब कुछ भव्य अर्थात् नियत था, किन्तु अब वह अभव्य अर्थात् अनियत है। इनके इस कथन का तात्पर्य यह है कि जब तक व्यक्ति अज्ञान मे है तब उसका वर्तमान उसके पूर्वकृत बन्धनो के या कर्मो के अनुरूप अर्थात् नियत ही होता है, किन्तु ज्ञान के होने पर वह अपने भविष्य का निर्माता बनता है, इसलिए उसका भविष्य उसके पुरुषार्थ पर निर्भर रहता है, अर्थात् अनियत होता है। दूसरे शब्दो मे अतीत हमारा निर्माता है, किन्तु हम स्वय अपने भविष्य के निर्माता भी है। अत अतीत भव्य 'नियत' है और भविष्य अभव्य अनियत है। वस्तुत यहाँ उनका प्रतिपाद्य यही है कि व्यक्ति का वर्तमान उसके भूत के आधार पर निर्मित होता है वह नियत होता है, किन्तु व्यक्ति अपने पुरुषार्थ और ज्ञान के द्वारा अपने भविष्य का निर्माण कर सकता है। अत प्रबुद्ध साधक का भावी अनियत अर्थात् अभव्य होता है। वस्तुत यह नियतता और अनियतता का प्रश्न कर्मसिद्धान्त के साथ जुडा हुआ है। कर्म सिद्धान्त के अनुसार हमारा वर्तमान हमारे भूतकालिक कर्मो का परिणाम होता है, किन्तु हम अपने भविष्य के निर्माता बन सकते है। यही भवितव्यता और अभवितव्यता की स्थिति है, जिसका प्रस्तुत अध्याय मे प्रतिपादन किया गया है। इस अध्याय मे कर्म-सिद्धान्त की महत्ता और उसके स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है जो कि अन्य अध्यायो के समान ही है। कर्म-सिद्धान्त के प्रतिपादन के पश्चात् मुख्य रूप से कर्म के बन्धन के रूप मे मोह या अज्ञान की चर्चा की गयी है और यह बताया गया है कि व्यक्ति मोह दशा के कारण किस प्रकार कर्म का बन्धन करता है। इसी सन्दर्भ मे यह भी बताया गया है कि व्यक्ति स्वय ही बन्धन मे आता है और स्वय ही मुक्त हो सकता है। अत साधक को कर्म-परम्परा के वैचित्र्य को सम्यक् प्रकार से जानकर

---

१६१ ऋषिभाषित २४ वाँ अध्ययन

कर्म-सन्तति से मुक्त होने के लिए समाधि को प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार हम देखते है कि ऋषिभाषित मे प्रतिपादित हरिगिरि के विचारो मे मनुष्य के सन्दर्भ मे नियति (भवितव्यता) और पुरुषार्थ के सम्यक् सयोजन के साथ कर्म-सिद्धान्त और कर्म-बन्धन के रूप मे मोह के परिणामो की विस्तृत चर्चा की गयी है, किन्तु ये सभी तथ्य समान रूप से अन्य ऋषियो के कथनो मे भी मिलते है। अत यह बता पाना कि हरिगिरि का कोई विशिष्ट दर्शन था, कठिन है, मात्र हम यही कह सकते है कि उन्होने नियतिवाद और पुरुपार्थवाद के समन्वयक के रूप मे कर्म-सिद्धान्त को प्रस्तुत किया था।

बौद्ध परम्परा मे हारित थेर का उल्लेख उपलब्ध है[१६२] किन्तु यह कह पाना कठिन है कि ये हारित थेर और ऋषिभाषित के हरिगिरि एक ही व्यक्ति होगे। यद्यपि बौद्ध परम्परा मे इनका अर्हत् तथा विशिष्ट तपस्वी के रूप मे स्मरण किया गया है, किन्तु उपलब्ध विवरणो के अभाव मे निश्चयात्मक रूप से इनके बारे मे कुछ कह पाना कठिन है। बौद्ध परम्परा के अतिरिक्त बृहदारण्यक उपनिषद् मे भी आचार्यो की जो वश-सूची दी गयी है उसमे कश्यप के शिष्य हरित कश्यप का उल्लेख है।[१६३] मेरी दृष्टि से यह सभव है कि बृहदारण्यक उपनिषद् मे वर्णित हरित ऋषि ही ऋषि-भाषित के हरिगिरि हो। यद्यपि स्पष्ट प्रमाण के अभाव मे इसे भी निश्चयात्मक रूप से स्वीकार कर पाना कठिन है।

२५. अम्बड परिव्राजक

ऋषिभाषित का २५वा[१६४] अध्याय अम्बड परिव्राजक का है। जैन आगम साहित्य मे इनका उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त समवायाङ्ग,[१६५] भगवती,[१६६] औपपातिक[१६७] एव स्थानाङ्ग[१६८] मे भी मिलता है। समवायाङ्ग मे इन्हे आगामी उत्सर्पिणी कालचक्र मे होने वाला तीर्थङ्कर कहा गया है। भगवतीसूत्र के अनुसार ये श्रावस्ती के निवासी एक परिव्राजक थे। महावीर से चर्चा के उपरान्त अम्बड सन्यासी द्वारा श्रावक धर्म ग्रहण करने सम्बन्धी उल्लेख भगवती और औपपातिक सूत्र मे मिलता है। इससे यह फलित होता है कि महावीर के धर्म के प्रति निष्ठावान

---

१६२ देखें—डिक्शनरी आफ पालि प्रापर नेम्स भाग २ पृ १३२३–१३२४

१६३ वृहदारण्यकोपनिद् ६१/४१/३३

१६४ ऋपिभापित, २५वाँ अध्ययन

१६५ समवायाग, सूत्र १५९

१६६ भगवती सूत्र ५२९–५३०

१६७ औपपातिक सूत्र ३८–४०

१६८ स्थानाग मूत्र ६९२

होकर भी इन्होने अपनी स्वतत्र परम्परा को बनाये रखा था। औपपातिक से यह भी ज्ञात होता है कि ब्राह्मण परिव्राजको की एक शाखा उनके नाम पर प्रसिद्ध थी जो सभवत औपपातिक के वर्तमान स्वरूप निर्धारण काल अर्थात् ईसा की चौथी–पाचवी शती तक चलती रही होगी। इसी प्रकार स्थानाङ्ग के अनुसार अन्तकृत्दशा का दसवा अध्याय अम्बड परिव्राजक से सम्बन्धित था, यद्यपि वर्तमान अन्तकृत्दशा मे यह अध्याय (दशा) अनुपलब्ध है। औपपातिक मे इस सम्बन्ध मे भी विस्तार से चर्चा की गई है कि अम्बड आदि इन ब्राह्मण परिव्राजको की कल्प्य-अकल्प्य अर्थात् आचार व्यवहार की क्या व्यवस्था थी। यद्यपि विस्तार भय से इसकी समग्र चर्चा यहाँ अपेक्षित नही है। औपपातिक मे इस सम्बन्ध मे विस्तार से विवरण उपलब्ध है कि अम्बड परिव्राजक और उनके शिष्यो ने किस प्रकार बिना दिये जल ग्रहण नही करने के अपने नियम के पालनार्थ पुरिमताल नगर की ओर जाते हुए मार्ग के एक वन खड मे गगा नदी के किनारे ग्रीष्म ऋतु मे बालू की शय्या पर सल्लेखना ग्रहण कर अपने प्राण त्याग दिये। तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यह विवेचन महत्वपूर्ण है और अम्बड परिव्राजक की आचार-परम्परा की एक विस्तृत झाकी प्रस्तुत करता है। जैन आगम साहित्य मे सर्वत्र ही अम्बड परिव्राजक का आदर के साथ उल्लेख हुआ है।

बौद्ध परम्परा[१९९] मे अम्बट्ठ माणवक का उल्लेख मिलता है। बौद्ध परम्परा के अनुसार अम्बट्ठ पोष्कर साती ब्राह्मण के शिष्य थे तथा इनका भगवान् बुद्ध से ब्राह्मणो की श्रेष्ठता को लेकर विवाद हुआ था। जहाँ एक ओर अम्बट्ठ शाक्यो को निम्न जाति का बताते थे, वही दूसरी ओर अन्य लोग अम्बट्ठ को दासी पुत्र कह कर अपमानित करते थे।

इस समग्र चर्चा के उपसहार के रूप मे बुद्ध जातिवाद या वर्ण व्यवस्था मे आचरण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रसग मे मुख्य रूप से यह द्रष्टव्य है कि अम्बट्ठ को कृष्ण ऋषि की वश परम्परा का अर्थात् कार्ष्णायिन कहा गया है। ज्ञातव्य है कि औपपातिक मे ब्राह्मण परव्राजको की एक परम्परा का नाम 'कण्ह' है। हो सकता है कि अम्बट्ठ सुत्त मे उल्लिखित कृष्ण ऋषि ऋषिभाषित के वारिसव कण्ह हो।

जहाँ तक वैदिक परम्परा[२००] का प्रश्न है, हमे अम्बष्ठ का उल्लेख एक जाति के रूप मे ही मिलता है, जो कि ब्राह्मण पिता और वैश्य स्त्री द्वारा उत्पन्न हुई थी। बौद्ध परम्परा मे इस जाति को क्षत्रिय पिता और दास सभवत शूद्र स्त्री से उत्पन्न सन्तान कहा गया है। जहाँ तक अम्बड या अम्बष्ठ के एक ऋषि के रूप मे

---

१९९ दीघनिकाय खण्ड १ पृष्ठ ८७ (पालि टेक्स्ट सोसाइटी)

२०० ऐतरेय ब्राह्मण ८,२१

उल्लिखित होने का प्रश्न है, बौद्ध और वैदिक परम्परा हमे कोई सूचना प्रदान नही करती।

ऋषिभाषित के अम्बड नामक अध्याय मे योगन्धरायण ऋषि का भी उल्लेख आता है। इनके सम्बन्ध मे जैन परम्परा मे ऋषिभाषित के अतिरिक्त आवश्यक-चूर्णी[२०१] मे भी विवरण प्राप्त होता है। आवश्यकचूर्णी मे इन्हे उदायन राजा का अमात्य कहा गया है। अत अम्बड और योगन्धरायण निश्चित रूप से महावीर के समकालीन थे।

२६. मातङ्ग

ऋषिभाषित[२०२] के छब्वीसवे अध्याय मे मातङ्ग नामक अर्हत् ऋषि के उपदेशो का सकलन है। जैन परम्परा मे ऋषिभाषित के अतिरिक्त मातङ्ग का उल्लेख अन्यत्र कही उपलब्ध नही होता है। यद्यपि आवश्यक मे मातङ्ग यक्ष का उल्लेख है, किन्तु उनका ऋषिभाषित के मातङ्ग से सम्बन्ध स्थापित कर पाना कठिन है। ऋषिभाषित के मातङ्ग नामक अध्याय मे सर्वप्रथम सच्चे ब्राह्मण के लक्षण बताये गये हैं, ये लक्षण उत्तराध्ययन[२०३] के पच्चीसवे अध्याय से दिये गये सच्चे ब्राह्मण के लक्षणो से समानता रखते है। इसी प्रकार धम्मपद[२०४] के ब्राह्मण वर्ग मे प्रतिपादित ब्राह्मणो के लक्षणो से भी इनकी समानता है। यद्यपि यहाँ केवल छह गाथाओ मे इन लक्षणो का उल्लेख है जब कि उत्तराध्ययन और धम्मपद मे अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से इनका उल्लेख पाया जाता है। फिर भी शाब्दिक अन्तर के अतिरिक्त विषय वस्तु की दृष्टि से इनमे कोई अन्तर नही है। इसके अति-रिक्त इसी अध्याय मे आध्यात्मिक कृषि का विवेचन है। यह विवेचन ऋषिभाषित के ३२वे पिंगीय नामक अध्याय मे तथा बौद्ध ग्रथ सुत्तनिपात[२०५] के कसी-भारद्वाज सुत्त मे भी मिलता है। इस अध्याय के अन्त मे यह कहा गया है कि जो इस प्रकार की सर्व प्राणियो की दया से युक्त कृषि करता है, वह चाहे ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र हो—वह विशुद्धि को प्राप्त करता है। ज्ञातव्य है कि ऋषिभाषित के ३२वे पिंगीय नामक अध्याय की गाथा क्रमाक ४ भी शब्दश यही है।

जैन परम्परा के अतिरिक्त बौद्ध परम्परा मे भी मातङ्ग का उल्लेख मिलता है। बौद्ध परम्परा मे मातङ्ग को प्रत्येकबुद्ध कहा गया है और इन्हे राजगृह का

---

२०१ (अ) आवश्यक चूर्णि—भाग १ पृ १३
(ब) देखें—Prakrit Proper Names Vol I P. 56

२०२ ऋषिभाषित २६ वाँ अध्ययन

२०३ उत्तराध्ययन सूत्र २५/१९–२९

२०४ धम्मपद ब्राह्मण वर्ग ४०५–४१०

२०५ सुत्तनिपात उरगवर्ग कसिभारद्वाज सुत्त

निवासी बताया गया है। मातङ्ग जातक[२०६] के अनुसार इनका जन्म चाण्डाल कुल मे हुआ था और इन्होने ब्राह्मणो के जाति अहकार को नष्ट किया था। ऋषिभाषित मे इनके उपदेशो मे सच्चे ब्राह्मण के स्वरूप का प्रतिपादन भी यही सूचित करता है कि ये जन्मना आधार पर ब्राह्मण वर्ग की श्रेष्ठता को अस्वीकार करते थे।

मातङ्ग शब्द चाण्डाल जाति का सूचक है। द्रष्टव्य है कि बौद्ध परम्परा के मातङ्ग जातक की कथा उत्तराध्ययन[२०७] के हरकेशी नामक १२वे अध्याय से समरूपता रखती है।

ब्राह्मण परम्परा मे महाभारत[२०८] मे भी हमे मातग ऋषि का उल्लेख प्राप्त होता है। महाभारत मे उपलब्ध मातङ्ग मुनि के उपदेशो का सारतत्त्व यही है कि वीर पुरुष को सदैव ही प्रयत्न करते रहना चाहिए। उसे किसी के सामने नतमस्तक नही होना चाहिए, क्योकि उद्योग करना ही पुरुष का कर्त्तव्य है। वीर पुरुष चाहे असमय मे नष्ट भले ही हो जाये, परन्तु कभी भी अपना सिर नही झुकाते। जब हम मातङ्ग के इस उपदेश की तुलना ऋषिभाषित के उपदेश से करते हैं तो दोनो मे एक समानता तो स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है और यह कि दोनो मे व्यक्ति को अपने कुलधर्म के अनुसार आचरण करने का निर्देश है। ऋषिभाषित मे मातङ्ग ब्राह्मणो के शस्त्रजीवी होने एव राजा तथा वणिको के यज्ञ-याग मे प्रवर्त होने पर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहते हैं कि यह तो ऐसा ही है मानो अन्धे से जुडे हुए है। इस अध्याय मे मुख्य रूप से यह बताया गया है कि ब्राह्मण न तो धनुष और रथ से युक्त होता है और न शस्त्रधारी ही। सच्चे ब्राह्मण को न तो झूठ बोलना चाहिए और न ही चोरी करनी चाहिए।

इस समग्र चर्चा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि मातङ्ग महावीर और बुद्ध के पूर्व अध्यात्ममार्ग के प्रणेता चाण्डाल कुलोत्पन्न एक प्रमुख ऋषि थे, जिनके उपदेश जैन, बौद्ध, और वैदिक तीनो ही परम्पराओ मे आदर के साथ स्वीकार किये जाते थे।

२७. वारत्तक

ऋषिभाषित[२०९] के २७ वे अध्याय मे वारत्तक नामक अर्हत् ऋषि के उपदेशो का सकलन उपलब्ध होता है। जैन परम्परा में ऋषिभाषित के अतिरिक्त

---

२०६ (अ) जातक खण्ड ४ ३७५-९० (Ed Fausball)
(ब) देखें—Dictionary of Pali Proper Names Vol II P 599

२०७ उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन १२

२०८ महाभारत उद्योग पर्व १२९/१९-२१

२०९ ऋषिभाषित २७ वां अध्ययन

आवश्यक चूर्णी[210], निशीथ भाष्य[211], बृहत्कल्पभाष्य[212], आवश्यक हरिभद्रीय टीका[213] आदि मे भी इनका उल्लेख मिलता है। उपलब्ध अन्तकृत्दशा के छठे वर्ग का नवा अध्ययन भी वारत्तक से सम्बन्धित है। इसमे इन्हे राजगृह का एक व्यापारी बताया गया है, जिन्होने भगवान महावीर के समीप दीक्षा ग्रहण करके विपुल पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया था। इसके विपरीत आवश्यक चूर्णी, निशीथ भाष्य, बृहत्कल्प भाष्य आदि मे वारत्तक को वारत्तपुर नगर के अभयसेन नामक राजा का मत्री बताया गया है। आवश्यक चूर्णी के अनुसार ये धर्मघोष नामक आचार्य के पास दीक्षित हुए थे। आवश्यक चूर्णी के अतिरिक्त वारत्तक की कथा हमे ऋषिमण्डलवृत्ति मे भी मिलती है। कथा के अनुसार मुनि जीवन मे ही इन्होने कोई भविष्य वाणी की थी, जिसके परिणाम स्वरूप सुसुमार नगर के राजा धुन्धुमार ने चण्डप्रद्योत पर विजय प्राप्त की। किसी समय चण्डप्रद्योत ने धुन्धुमार राजा के विजय के कारण को जानकर वारत्तक को नैमित्तिक मुनि के नाम से सम्बोधित किया। अपनी भाषा समिति सम्बन्धी भूल का ज्ञान होने पर वारत्तक मुनि ने पश्चात्ताप किया और मोक्ष को प्राप्त हुए। इस कथा मे कितनी सत्यता है यह कहना कठिन है, किन्तु वारत्तक के सम्बन्ध मे उपलब्ध यह उल्लेख इतना तो अवश्य सूचित करता है कि ये एक प्रभावशाली ऋषि रहे होगे।

प्रस्तुत अध्याय मे वारत्तक ऋषि के उपदेशो के रूप मे एक आदर्श श्रमण को कैसा होना चाहिए, इस तथ्य का चित्रण उपलब्ध होता है। इनके अनुसार मुनि सासारिक या गृहस्थो के सम्पर्क से विरत रहे, साथ ही स्नेह बन्धन को छोडकर स्वाध्याय मे तल्लीन रहकर, चित्त के विकार से दूर रह कर निर्वाण मार्ग मे लगा रहे। जो मुनि गृहस्थो का कौतूहल, लक्षण, स्वप्न आदि से मनोरजन करता है तथा दान आदि का प्रयोग करता है, भक्तो के चूडोपनयनादि वैवाहिक प्रसगो में सम्मिलित होता है, राजाओ के साथ युद्ध मे भाग लेता है, स्वय की पूजा-मान्यता तथा लौकिक सुखो के लिये उक्त कार्य करता है, तो उपरोक्त सभी कार्य मुनि के जीवन के विपरीत है। अत. श्रमण धर्मजीवी अकिचन बनकर प्रिय और अप्रिय को सहन करे और आत्म लक्ष्य का त्याग न करे। इस प्रकार वह जितेन्द्रिय, वीतराग तथा त्यागी बनता है तथा पुन ससार मे नही आता है। वारत्तक के उपर्युक्त उपदेश कुछ शाब्दिक परिवर्तनो के साथ हमे उत्तराध्ययन के सभिक्षु और पाप-श्रमण नामक अध्यायो मे भी मिलते है। यद्यपि वहाँ इनके प्रवक्ता का स्पष्ट नामोल्लेख नही है।

---

२१० आवश्यक चूर्णि भाग २ पृ १९९

२११ निशीथ भाष्य गाथा ५८९०

२१२ बृहद्कल्पभाष्य गाथा ४०९६

२१३ आवश्यक हरिभद्रीयवृत्ति पृ ७११–७१२

बौद्ध परम्परा मे वारण थेर का उल्लेख है[२१४] जो जगल मे निवास करने वाले किसी भिक्षु का उपदेश सुनकर प्रव्रजित हुए थे। यद्यपि वारत्तक से इनका कोई सम्बन्ध जोड पाना कठिन है। वैदिक परम्परा मे वारत्तक का कोई उल्लेख हमे दृष्टिगत नही होता है। अत अन्य स्रोतो के आधार पर इनके सम्बन्ध मे कुछ बता पाना कठिन है।

२८. आर्द्रक

ऋषिभाषित[२१५] का २८वाँ अध्याय आर्द्रक से सम्बन्धित है। आर्द्रक के प्राकृतरूप अद्दग्र, अद्दग आदि मिलते है। यद्यपि हमे यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि ऋषिभाषित मे आर्द्रक और उद्दालक--ऐसे दो ऋषियो का वर्णन है। उद्दालक को प्राकृत मे 'अद्दालअ' कहा गया है। अत दोनो के सस्कृत रूपो की भिन्नता को ध्यान मे रखना चाहिये। ऋषिभाषित के अतिरिक्त आर्द्रक का उल्लेख हमे सूत्रकृताग[२१६], सूत्रकृताग निर्युक्ति[२१७], सूत्रकृताग चूर्णि[२१८] मे भी मिलता है। आवश्यक[२१९] मे भी इनका उल्लेख आर्द्रक कुमार के रूप मे हुआ है। सूत्रकृताग के अनुसार जब ये दीक्षित होने को जाते है तो इन्हे आजीवक, बौद्ध एव हस्तितापस आदि अन्य श्रमण परम्पराओ के व्यक्ति मिलते हैं तथा अपनी परम्परा की विशेषता उनके सम्मुख प्रस्तुत करते है। सूत्रकृताग चूर्णि मे इनके पूर्व-जीवन एव वर्तमान-जीवन की कथा भी दी गई है। कथा के अनुसार ये आर्द्रकपुर के राजा के पुत्र थे। इन्हे अभय कुमार के द्वारा उपहार के रूप मे ऋषभ की प्रतिमा भेजी गई थी, जिसे देखकर उन्हे वैराग्य जागृत हो गया। वसन्तपुर नगर मे इन्हे खेल-खेल मे एक लडकी अपना पति मान लेती है। अन्त मे इन्हे कुछ समय पश्चात् उससे अपना विवाह करना पडता है। किन्तु, पुन वैराग्य को प्राप्त कर दीक्षित होने के लिए प्रस्थान करते है। मार्ग मे इन्हे पूर्व वर्णित श्रमण-परम्परा एव तापस परम्परा के व्यक्ति मिलते है। उपर्युक्त कथा मे कितनी यथार्थता है, यह कहना तो कठिन है किन्तु इतना निश्चित है कि आर्द्रक बुद्ध और महावीर के समकालीन कोई ऐतिहासिक ऋषि थे। सूत्रकृताग मे विभिन्न परम्परा के श्रमणो एव तापसो से हुई इनकी चर्चा से

---

२१४ देखें—Dictionary of Pali Proper Names, Vol. II P 854

२१५ ऋषिभाषित २८ वाँ अध्ययन

२१६ सूत्रकृताग २/६

२१७ सूत्रकृताग निर्युक्ति गाथा १८७–२००

२१८ सूत्रकृताग चूर्णि पृ ४१३–१७

२१९ (अ) आवश्यक सूत्र पृ २७
(ब) Prakrit Proper Names, Vol I P 44

इस तथ्य की पुष्टि होती है कि ये निर्ग्रन्थ परम्परा से प्रभावित या सम्बन्धित रहे होगे ।

जहाँ तक ऋषिभाषित मे इनके उपदेशो का प्रश्न है ये सासारिक कामभोगो से दूर रहने का उपदेश देते है, क्योकि इनके अनुसार कामवासनाये ही रोग हैं और दुर्गति का कारण है । कामवासना ग्रस्त जीव ही दु ख के भागी होते है । काम शल्य है, काम विष है । जब तक प्राणी इस काम रूपी शल्य या विष का नाश नही कर देता, वह भव-भ्रमण की परम्परा से मुक्त नही हो पाता । मेधावी एव पण्डित को प्रतिसमय एव प्रतिक्षण अपनी मलिनता को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए । जब एक क्षणमात्र के लिए भी की गई शुभ क्रिया विपुल फल प्रदान करती है तो मोक्ष के लिए किया गया पुरुषार्थ फिर असीम फल प्रदान क्यो नही करेगा ? प्रस्तुत उपदेश मे हमे कोई विशिष्ट नवीन बात नही मिलती है। इस अध्याय की अनेक गाथाये कुछ शाब्दिक परिवर्तनो के साथ उत्तराध्ययन और दशवैकालिक मे पाई जाती हैं । आर्द्रक का सूत्रकृताग जैसे प्राचीन ग्रन्थ मे उपलब्ध उल्लेख यह सिद्ध करता है कि ये एक ऐतिहासिक व्यक्ति रहे होगे ।

जैन परम्परा के अतिरिक्त बौद्ध एव वैदिक परम्परा मे आर्द्रक का उल्लेख कही नही प्राप्त होता है । अत तुलनात्मक दृष्टि से इनका और इनके उपदेशो का अध्ययन कर पाना कठिन है । अन्य परम्पराओ मे इनके उल्लेख का अभाव यह भी सूचित करता है कि ये निर्ग्रन्थ परम्परा से ही सम्बन्धित रहे होगे ।

२९. वर्द्धमान

ऋषिभाषित[२२०] के २९वे अध्याय मे वर्द्धमान नामक अर्हत् ऋषि के उपदेश सकलित है । जैनो की परम्परागत मान्यता के अनुसार इन्हे तीर्थङ्कर पार्श्व के तीर्थ का अर्हत् ऋषि या प्रत्येकबुद्ध कहा गया है। किन्तु, मेरी दृष्टि मे ये वर्द्धमान अन्य कोई नही, अपितु स्वय भगवान महावीर ही है । जैन परम्परा मे महावीर का पारिवारिक नाम वर्द्धमान ही है । कल्पसूत्र एव चतुर्विशति स्तव मे भी महावीर का इसी नाम से उल्लेख हुआ है । जहाँ तक वर्द्धमान के जीवन-वृत्त का सम्बन्ध है आचाराग,[२२१] सूत्रकृताग,[२२२] भगवती,[२२३] कल्पसूत्र[२२४] आदि अनेक प्राचीन जैनागमो मे हमे उनके व्यक्तित्व एव दर्शन का विस्तृत विवरण उपलब्ध हो

---

२२०. ऋषिभाषित, २९वाँ अध्ययन
२२१. आचाराग २/१७९
२२२ सूत्रकृताग १/६ (वीरत्थुइ)
२२३ देखें, भगवती सूत्र-शतक ९ एव १५
२२४. कल्पसूत्र ४–१४५

जाता है। मेरी दृष्टि से इस सम्बन्ध मे सन्देह का कोई अवकाश तो नही है कि ऋषिभाषित के वर्द्धमान, चौबीसवे तीर्थङ्कर के रूप मे मान्य भगवान महावीर ही हैं। इस तथ्य का एक अन्य प्रमाण यह है कि आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के 'भावना' नामक अध्याय मे उल्लेखित एव उत्तराध्ययन[२२५] के ३२वे अध्याय मे उल्लिखित महावीर के उपदेशो से ऋषिभाषित के इनके उपदेशो की पूर्ण समानता है।

प्रस्तुत अध्याय के प्रारम्भ मे वे कहते है—चारो ओर से स्रोत (आस्रव) है, इन स्रोतो का निवारण क्यो नही करते। स्रोतो का निरोध कैसे होता है ? पाँच इन्द्रियो के जागृत होने पर आत्मा सुप्त हो जाती है और पाँच के सुप्त होने पर आत्मा जागृत होती है। पाच से रज (कर्मरज) का आदान होता है और पॉच से ही रज (कर्मरज) का आदान रुक जाता है। श्रोत्र आदि पाच इन्द्रियो के शब्दादि विषय मनोज्ञ या अमनोज्ञ होते है, अत न तो मनोज्ञ के प्रति राग-भाव होना चाहिए और न अमनोज्ञ के प्रति द्वेषभाव होना चाहिए। जो मनोज्ञ के प्रति आसक्त नही होता और अमनोज्ञ के प्रति द्वेषित नही होता, जो असुप्त (जागृत) और अविरोधी होता है उसके स्रोत (आस्रव) निरुद्ध हो जाते हैं। जो मन और कषायो को जीतकर सम्यक् तप करता है वह शुद्धात्मा अग्नि मे दी गई हविष् के समान प्रदीप्त होती है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय पाँच इन्द्रियो और मन के सयम पर बल देता है।

प्रस्तुत अध्याय की यह विषय वस्तु कुछ शाब्दिक रूपान्तरण के साथ आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भावना नामक अध्याय मे तथा उत्तराध्ययन के प्रमाद-स्थान नामक ३२वे अध्ययन मे मिलती है। इससे यह प्रमाणित होता है कि यह वस्तुत वर्द्धमान महावीर का मूल उपदेश रहा होगा। इसका 'देवा वि त नमसति' दशवैकालिक[२२६] की प्रथम गाथा मे भी मिलता है।

यह उनका मूल उपदेश था, इसकी भाषा तद्रूप थी। इसका दूसरा प्रमाण यह है कि पालि त्रिपिटक[२२७] मे 'निगठनातपुत्त' (निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र अर्थात् वर्द्धमान) के उपदेश मे 'सव्व वारि वारितो' वाक्याश पाया जाता है। इस अध्याय मे भी 'सव्व वारीहिं वारिए' वाक्याश है। स्मरणीय है प राहुल साकृत्यायन ने इस 'वारि' का अर्थ जल या पानी किया है, वह उचित नही है। यहाँ 'वारि' का अर्थ वारण करने योग्य अर्थात् पाप कर्म है। महावीर के उपदेश के सम्बन्ध मे सूत्रकृतांग मे भी 'से वारिया इत्थी सरायभत्त' का उल्लेख है।[२२८]

---

२२५ उत्तराध्ययन ३२/२१–१००

२२६ दशवैकालिक १/१

२२७ देखे—दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त तथा मज्झिमनिकाय उपालिसुत्त

२२८ सूत्रकृताग १/६/२८

जैन साहित्य के अतिरिक्त वर्द्धमान महावीर का उल्लेख हमे पालि बौद्ध साहित्य मे भी मिलता है। इसमे इनका उल्लेख 'निग्गठ नातपुत्त' के रूप मे हुआ है। इन्हे बुद्ध का ज्येष्ठ समकालीन माना गया है। यद्यपि प्रचलित बुद्ध निर्वाण सवत् और वीर निर्वाण सवत् के आधार पर वर्द्धमान महावीर से बुद्ध लगभग ३० वर्ष छोटे सिद्ध होते है। उनको बुद्ध के समकालीन छह तीर्थङ्करो मे माना गया है। पालि साहित्य मे उनके सम्बन्ध मे जो उल्लेख मिलते है उस पर पाश्चात्य एव भारतीय विद्वानो ने पर्याप्त रूप से विवेचन किया है, अत मै उस पर विशेष चर्चा करना नही चाहता। मैं केवल थेर गाथा अट्ठकथा[२२९] का एक सन्दर्भ अवश्य प्रस्तुत करना चाहूँगा जो विद्वानो के लिए उपेक्षित रहा है। थेर गाथा की अट्ठकथा मे वद्धमाण थेर को वैशाली का लिच्छवी वशीय राजकुमार कहा गया है। यह एक ऐसा तथ्य है जो उनकी सगति वर्द्धमान महावीर के साथ वैठाता है। मैं तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि थेरगाथा के सभी थेर बौद्ध परम्परा के नही हैं, उसमे बुद्ध के पूर्ववर्ती अनेक लब्ध-प्रतिष्ठित श्रमणो के उद्गार सम्मिलित है। यद्यपि साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण अट्ठकथाओ मे उन्हे बौद्ध परम्परा से जोडने का प्रयत्न किया गया है। जिस प्रकार जैन परम्परा मे ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन मे अन्य श्रमण परम्परा के ऋषियो के विचार सकलित है। उसी प्रकार थेर गाथा मे भी अन्य श्रमण-परम्परा के ऋषियो के उपदेश सकलित है। इसी आधार पर मेरी यह मान्यता है कि ऋषिभाषित के वद्धमाण और थेर गाथा के वद्धमाण एक ही व्यक्ति है। साथ ही पालि त्रिपिटक के निग्गठ नातपुत्त और जैन परम्परा के वर्द्धमान महावीर भी ऋषिभाषित और थेर गाथा के वर्द्धमान ही है। इस आधार पर वर्द्धमान की ऐतिहासिकता भी सुस्पष्ट है। थेरगाथा मे भी वर्द्धमान थेर ने राग के प्रहीण की वही बात कही है, जो आचाराग और उत्तराध्ययन मे भी कही गई है।

३०. वायु

ऋषिभाषित का तीसवॉ अध्याय वायु नामक ऋषि से सम्बन्धित है।[२३०] ऋषिभाषित के अतिरिक्त वायु नामक ऋषि का उल्लेख जैनागम साहित्य मे अन्यत्र उपलब्ध नही है। यद्यपि भगवान् महावीर के ११ गणधरो मे तीसरे गणधर का नाम वायुभूति है,[२३१] किन्तु वायुभूति और वायु ऋषि एक ही व्यक्ति है, यह कह

२२९. (अ) थेरगाथा अट्ठकथा—प्रथम भाग पृष्ठ १५३
(ब) देखे—Dictionary of Pali Proper Names, Vol II P. 820

२३० ऋषिभाषित अध्याय ३०

२३१ (अ) भगवतीसूत्र सूत्र १२८,१३२
(ब) विशेषावश्यक भाष्य २४३५

पाना कठिन है, क्योंकि इस सम्बन्ध मे कोई अन्तर या बाह्य साक्ष्य उपलब्ध नही है। बौद्ध परम्परा मे वायु का उल्लेख मात्र एक देवता के रूप मे हुआ है। वैदिक स्रोतो मे भी मुख्यत वायु को एक देव के रूप में ही स्वीकार किया गया है। मात्र महाभारत के शान्ति पर्व मे वायु नामक एक प्राचीन ऋषि का उल्लेख है, जो शर-शय्या पर पड़े हुए भीष्मजी को देखने आये थे। इसी प्रकार महाभारत के शल्य पर्व मे वायु चक्र, वायु ज्वाल, वायु बल, वायु मण्डल, वायु रेता एव वायु वेग नामक ऋषियो के उल्लेख हैं, किन्तु प्रथम तो ये पौराणिक ही हो जाते है, ऐतिहासिक नही। दूसरे इनकी वायु ऋषि से कोई सगति भी नही प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त महाभारत मे ही वायु भक्ष नामक एक अन्य ऋषि का भी उल्लेख है, जो युधिष्ठिर की सभा मे उपस्थित थे तथा जिनकी मार्ग मे कृष्ण से भेट हुई थी[२३२]। वैसे वायु भक्षी तापसो का उल्लेख औपपातिक मे भी है। जहाँ तक ऋषिभाषित मे वायु ऋषि के उपदेशो का प्रश्न है, वे मुख्य रूप से कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है। वे कहते है कि जैसा बीज होता है वैसा फल होता है, अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा होता है। कोई भी कर्म निष्फल नही जाता है। कर्म का फल मरणोत्तर काल मे कैसे मिलता है, इसे पुष्ट करते हुए कहा गया है कि पानी तो जडो को दिया जाता है, किन्तु फल शाखाओ पर लगते हैं। जिस प्रकार फल जहाँ सिञ्चन किया गया है, वहाँ न होकर अन्य क्षेत्र और काल मे होता है, उसी प्रकार कृत-कर्मों का फल भी अन्य क्षेत्र और काल मे होता है। कर्म सिद्धान्त के इस सामान्य प्रतिपादन के अतिरिक्त इस अध्याय मे कोई नवीन तथ्य नही मिलता है।

३१. पार्श्व

ऋषिभाषित के इकतीसवे अध्याय मे अर्हत् पार्श्व के दार्शनिक विचारो का सकलन है।[२३३] यद्यपि जैनो की परम्परागत मान्यता तो यह है कि ये अर्हत् पार्श्व तेइसवे तीर्थंकर पार्श्व के काल मे हुए एक प्रत्येकबुद्ध हैं और तीर्थकर पार्श्व से भिन्न हैं। किन्तु, सभी विद्वान् इस सम्बन्ध मे एक मत है कि ये स्वय तीर्थकर पार्श्व ही है। इनके उपदेशो मे चातुर्याम का प्रतिपादन इस मान्यता का पुष्ट प्रमाण है।[२३४] यद्यपि पार्श्व के सम्बन्ध मे बौद्ध और वैदिक स्रोतो से स्पष्टत: कोई जानकारी नही मिलती है, किन्तु बौद्ध परम्परा मे निर्ग्रन्थ ज्ञात-पुत्र के नाम से जो चातुर्याम सयम का प्रतिपादन हुआ है वह वस्तुत पार्श्व का चातुर्याम ही है। इसी प्रकार बौद्ध साहित्य

---

२३२ सम्पूर्ण सन्दर्भों के लिए देखे—महाभारत नामानुक्रमणिका पृष्ठ ३०३

२३३ ऋषिभाषित अध्याय ३१

२३४ (अ) वही ३१, (ब) उत्तराध्ययन २३/१२, (स) आवश्यक निर्युक्ति २३६; (द) सूत्रकृताग २/७/८१

मे बुद्ध के चाचा वप्प शाक्य के निर्ग्रन्थ परम्परा के अनुयायी होने की सूचना मिलती है। वप्प भी पार्श्व की परम्परा से ही सम्बन्धित रहे होगे, क्योकि महावीर की परम्परा तो उस समय विकसित हो रही थी। पार्श्व की ऐतिहासिकता अनेक प्रमाणो से पुष्ट होती है और इसे अनेक पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानो ने स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध मे मैने अपने ग्रन्थ 'अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा' मे विस्तार से विचार किया है, अत जिज्ञासु पाठको से उसे वहाँ देखने की अपेक्षा उल्लेख की जा सकती है।[२३५] जैनागम साहित्य मे पार्श्व एव उनकी परम्परा के सम्बन्ध मे आचाराग,[२३६] सूत्रकृताग,[२३७] समवायाग,[२३८] भगवती,[२३९] औपपातिक,[२४०] राजप्रश्नीय,[२४१] निरयावलिका,[२४२] कल्पसूत्र,[२४३] आवश्यक चूर्णि[२४४] आदि मे पाये जाते है। इसके अनेक कथा-ग्रथो मे पार्श्व के जीवन-वृत्त का आशिक रूप से या स्वतन्त्र रूप से उल्लेख है। उत्तराध्ययन, सूत्रकृताग और भगवती मे पार्श्व और महावीर की परम्परा के अन्तर को स्पष्ट किया गया है।[२४५] मुख्य विवादास्पद प्रश्न थे—चातुर्याम और पाच महाव्रत, सचेलता और अचेलता। किन्तु, इनके अतिरिक्त प्रतिक्रमण, अहिंसा सम्बन्धी प्रत्याख्यान के स्वरूप तथा सामायिक सयम, सवर, विवेक एव व्युत्सर्ग के स्वरूप को लेकर भी मत-भेद थे जिनकी चर्चा हमे सूत्रकृताग और भगवती से मिलती है। भगवती सूत्र के अनुसार कालस्यवैशिक पुत्र नामक पार्श्वापत्य अनगार ने महावीर के सघ मे प्रवेश करते समय पच महाव्रतो एव सप्रतिक्रमण धर्म के साथ-साथ नग्नता, मुण्डितता, अस्नान, अदन्तधावन, छत्ररहित एव उपानह (जूते) रहित होना, भूमिशयन, फलक-शयन, काष्ठ-शयन, केशलोच, ब्रह्मचर्य, (भिक्षार्थ) परगृह-प्रवेश, लब्ध-अलब्ध मे समभाव आदि नियमो को भी ग्रहण किया था।[२४६] इससे स्पष्ट है कि ये नियम पार्श्व की परम्परा मे अप्रचलित थे। छेद सूत्रो मे मुनि आचार मे छाता, जूते, चमडे के थेले रखने एव क्षुर मुण्डन सम्बन्धी जो विधान उपलब्ध होते है वे पार्श्वापत्यो के प्रभाव के कारण ही महावीर

---

२३५ अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा, प्रो सागरमल जैन पृष्ठ १–७
२३६ आचाराग २/१५/२५,
२३७ सूत्रकृताग २/७/८
२३८ समवायाग ८/८,९/४, १६/४, २३/३,,
२३९ भगवती १/९/४२३,
२४० औपपातिक २/५/९५
२४१ राजप्रश्नीय २१३ (मधुकर मुनि)
२४२ निरयावलिका ३/१,
२४३ कल्पसूत्र १४९/१५९
२४४ आवश्यक चूर्णि भाग १, पृष्ठ २८५,२९१,२९८
२४५ उत्तराध्ययन २३/१२-१३, सूत्रकृताग २/७/३८
२४६ भगवती १/९/४३२-४३३

की परम्परा मे आये थे। यह भी सत्य है कि पार्श्वापत्य श्रमणो की सुविधावादी और भोगवादी प्रवृत्तियो के कारण ही आगे चलकर पासत्थ (पार्श्वस्थ) शब्द शिथिलाचार का पर्याय बन गया। ज्ञाता और आवश्यक चूर्णि मे पार्श्वापत्य परम्परा के अनेक श्रमणो एव श्रमणियो के शिथिलाचारी होने के उल्लेख है।[२४७] इस चर्चा का निष्कर्ष मात्र यही है कि पार्श्व एक ऐतिहासिक ऋषि है। उनकी परम्परा जो अपेक्षाकृत सुविधावादी थी, महावीर के युग मे प्रचलित थी तथा अनेक पार्श्वापत्य श्रमण महावीर के सघ मे प्रविष्ट हो रहे थे।

जहाँ तक ऋषिभाषित मे वर्णित पार्श्व के धर्म-दर्शन का प्रश्न है, वह निश्चित ही पार्श्व की धार्मिक एव दार्शनिक मान्यताओ का प्रामाणिक एव उपलब्ध प्राचीनतम रूप है। ऋषिभाषित मे पार्श्व के दार्शनिक एव आचार सम्बन्धी दोनो ही प्रकार के विचार उपलब्ध है। यहाँ यह भी स्मरण रखने योग्य है कि ऋषिभाषित मे पार्श्व नामक अध्ययन का वह पाठान्तर भी उपलब्ध है, जो **गति व्याकरण** नामक ग्रन्थ मे समाहित था।[२४८] दार्शनिक दृष्टि से इसमे लोक का स्वरूप, जीव एव पुद्गल की गति, कर्म और फल विपाक तथा इस विपाक के स्वरूप होने वाली विविध गतियो की चर्चा है। साथ ही इसमे पच अस्तिकायो एव मोक्ष के स्वरूप की चर्चा भी उपलब्ध होती है। आचार सम्बन्धी चर्चा मे चातुर्याम, कषाय, प्राणातिपात से मिथ्या दर्शन तक १८ पापस्थान, उचित भोजन आदि की चर्चा है।

सर्व प्रथम इसमे लोक एव पचास्तिकाय को शाश्वत कहा गया है। किन्तु, लोक को शाश्वत मानते हुए भी उसे पारिणामिक अर्थात् परिवर्तनशील कहा गया है। पार्श्व लोक को शाश्वत मानते है, यह बात भगवती सूत्र मे भी उपलब्ध होती है। पुनः जीव और पुद्गल दोनो को गतिशील कहा गया है तथा जीव को स्वभावत ऊर्ध्वगामी और पुद्गल को अधोगामी कहा गया है। सामान्यतया द्रव्यगति, क्षेत्रगति, कालगति और भावगति इन चार गतियो की चर्चा है, किन्तु, पाठान्तर मे प्रयोग गति (पर-प्रेरित) और विस्रसागति (स्व-प्रेरित गति) की भी चर्चा है। इसमे अष्ट प्रकार की कर्म-ग्रन्थियो की, देव, नारक, मनुष्य और तिर्यञ्च इन चार गतियो का भी उल्लेख है। पाठान्तर औदयिक और पारिणामिक गति का भी निर्देश करता है। साथ ही यह भी बताया गया है कि जीव स्वकृत पुण्य-पाप के फल का भोग करता है। अन्त मे नैतिक विचारो को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि जो चातुर्याम से युक्त, कषायरहित, अचित्त-भोजी (मृत-भोजी) होता है, वह अष्ट कर्म-ग्रन्थियो का बन्धन नही करता है और अन्त मे मुक्ति को प्राप्त करता है।[२४९]

---

२४७ अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा, पृष्ठ ३६-३८

२४८. ऋषिभाषित अध्याय ३१

२४९. देखें—ऋषिभाषित अध्याय ३१,

३२. पिंग

ऋषिभाषित मे पिग का उल्लेख ब्राह्मण परिव्राजक अर्हत् ऋषि के रूप मे हुआ है।[२५०] ब्राह्मण परिव्राजक विशेषण से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे ब्राह्मण परम्परा के ऋषि थे। ऋषिभाषित मे उनका जो उपदेश सकलित है उसमे मुख्य रूप से आध्यात्मिक कृषि का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। पिंग ऋषि से किसी अज्ञात ऋषि का प्रश्न है कि आपका खेत (क्षेत्र) कौन-सा है? बीज क्या है? नगल क्या है? उसके उत्तर मे कहा गया है कि आत्मा क्षेत्र है, तप बीज है, सयम नगल है, अहिंसा और समिति बैल है। यही धर्म रूपी कृषि है। अलुब्ध मुनि के लिए यही कृषि शोभती है तथा परलोक मे सुखावह होती है। सर्व प्राणियो के प्रति दया करता हुआ जो इस प्रकार की कृषि करता है वह चाहे ब्राह्मण हो क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो सिद्धि को प्राप्त करता है।[२५१] यह आध्यात्मिक कृषि का स्वरूप है जो एक ओर आध्यात्मिक साधना के विभिन्न अगो को स्पष्ट करता है, तो दूसरी ओर यह भी स्पष्ट करता है कि इस प्रकार की आध्यात्मिक कृषि करने वाला व्यक्ति चाहे वह किसी जाति का हो मुक्ति को प्राप्त करता है। इसी अध्याय मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात जो हमे देखने को मिलती है वह यह है कि एक ब्राह्मण परिव्राजक चारो वर्णों की मुक्ति की अवधारणा को प्रतिपादित करता है।

स्वय ऋषिभाषित मे ही इस प्रकार की आध्यात्मिक कृषि का वर्णन कुछ भिन्न रूप मे हमे मातग नामक २६वे अध्याय मे भी मिलता है। जहाँ पिंग नामक इस अध्ययन मे केवल चार गाथाओ मे दूसरा विवरण है वहाँ मातग मे ८ गाथाओ मे इसका विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार इस अध्याय से आध्यात्मिक कृषि का विवरण २६वे मातग अध्याय का ही एक सक्षिप्त रूप है।

जैन परम्परा मे तो हमे इस प्रकार की कृषि का विवरण देखने को नही मिला, किन्तु बौद्ध परम्परा मे सुत्तनिपात और सयुत्तनिकाय मे इस आध्यात्मिक कृषि का निरूपण है। सुत्तनिपात के चतुर्थ कसिभारद्वाज सुत्त मे दूसरा विवरण हुआ है। वहाँ बुद्ध स्वय अपने को एक कृषक के रूप मे प्रस्तुत करते है और कहते है—श्रद्धा मेरा बीज है, तप वृष्टि है, प्रज्ञा मेरे युग और नगल हैं, लज्जा नगल दण्ड है। मन जोत है और स्मृति मेरी फाल एव छकुनी है। मैं वचन और आहार के विषय मे सयत हूँ। सत्य की निराई करता हूँ। निर्वाण की ओर जाने वाला वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ मेरे जोते हुए बैल है। वे निरन्तर उस दिशा की ओर जा रहे है जहाँ जाकर कोई शोक नही करता। इस प्रकार की जाने वाली खेती अमृत फल-प्रदायी होती है और ऐसी खेती करके मनुष्य सब दु खो से मुक्त हो जाता है।

---

२५० ऋषिभाषित, ३२

२५१ वही ३२

सयुत्तनिकाय मे भी लगभग इसी प्रकार का विवरण उपलब्ध होता है। आध्यात्मिक कृषि सम्बन्धी विवरण इस तथ्य की ओर हमे सूचित करता है कि समाज मे भिक्षोपजीवी श्रमणो के प्रति भी कही-कही आक्रोश भी था और उनसे यह कहा भी जाता था कि तुम भिक्षा मागने की अपेक्षा खेती क्यो नही करते ? इसके प्रत्युत्तर मे श्रमण अपने आध्यात्मिक कृषि का विवरण प्रस्तुत करते थे।

ऋषिभाषित के अतिरिक्त पिग सम्बन्धी विवरण हमे बौद्ध परम्परा मे भी मिलता है।[२५२] बौद्ध परम्परा मे अगुत्तरनिकाय मे पिगियानी नामक एक ब्राह्मण का उल्लेख है जो वैशाली का निवासी और बुद्ध का अनुयायी था। सयुत्तनिकाय मे एक अन्य पिंगी का उल्लेख उपलब्ध होता है जिसने अर्हत् पद को प्राप्त किया था। सुत्तनिपात मे भी हमे महर्षि पिंगी का उल्लेख उपलब्ध होता है। सुत्तनिपात के पारायणवग्ग मे सर्वप्रथम महर्षि पिंगी को बावारी का शिष्य बताया गया है। बावारी के १६ शिष्यो मे महर्षि पिगी भी एक है। इन्हे लोक-विश्रुत, ध्यानी, पूर्व सस्कारो से सुसस्कृत, गणी आदि विशेषण भी दिए गए है। पारायणवग्ग के पिंगी मानवक पुच्छा सुत्त मे बुद्ध और पिंगी के बीच हुई चर्चा का भी उल्लेख है। यहाँ पिंगी बुद्ध के सम्मुख अपनी वृद्धावस्था का भी चित्रण प्रस्तुत करते हैं और कहते है कि मैं जीर्ण हूँ, दुर्बल हूँ, विवर्ण हूँ, मेरे नेत्र और कान ठीक नही हैं। आप मुझे धर्म का उपदेश करे जिसे जानकर जन्म-जरा का अन्तर कर सकूँ और बीच मे ही मोह सहित मृत्यु को न प्राप्त करू। बुद्ध पिंगी को अप्रमत्त बनने का तथा तृष्णा के अन्त करने का उपदेश देते हैं।

सुत्तनिपात के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पिंग बुद्ध के समकालीन है, किन्तु वय मे उनसे ज्येष्ठ है। सुत्तनिपात मे उनके बुद्ध के अनुयायी होने का विवरण बुद्ध शासन की महिमा दिखाने हेतु है। अत सुत्तनिपात का सम्पूर्ण विवरण यथावत् रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता है। प्रो० सी० एम० उपासक[२५३] ने पालि साहित्य मे उल्लेखित पिंगी या पिगियानी के ऋषिभाषित के पिंग से भिन्न होने की सम्भावना व्यक्त की है। उनके अनुसार ऋषिभाषित के पिग एक प्राचीन ऋषि है, जिससे पिंगी या पिंगियानी की परम्परा चली है। हमे प्रो० उपासक के इस निष्कर्ष से सहमत होने मे कोई आपत्ति नही है। यह सम्भव है कि पिंग ऋषि की परम्परा मे हुए किसी पिंगियानी ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया हो। किन्तु, सुत्तनिपात के उपर्युक्त उल्लेख की जिसकी हमने चर्चा की है प्रो० उपासक ने सम्भवत उसे लक्ष्य मे नही लिया है। वे सयुत्तनिकाय और अगुत्तरनिकाय के पिंगियानी की चर्चा करते है। सुत्तनिपात मे इन्हे महर्षि बावारी शिष्य बताया है, अत यहाँ पिंगी, परम्परा का नही

---

२५२ वौद्ध परम्परा मे पिंग सम्बन्धी समस्त विवरणो के लिए देखे—Dictionary of Pali Proper Names, Vol II P 198-200

२५३ देखें—प० दलसुखभाई अभिनन्दन ग्रन्थ (पार्श्वनाथ विद्याश्रम वाराणसी) मे प्रकाशित उनका लेख।

अपितु व्यक्ति का सूचक है। पुन पिगी को व्यक्ति के रूप मे महर्षि, गणनायक, लोकविश्रुत, ध्यानी आदि विशेषण दिये गये है। वे निश्चय ही बुद्ध से ज्येष्ठ है। सुत्तनिपात मे उल्लेखित पिगी को ऋषिभाषित का पिग ऋषि माना जाये या उनका शिष्य माना जाये, यह विवाद का विषय हो सकता है, किन्तु इससे ऋषिभाषित के पिग नामक अर्हत् ऋषि की ऐतिहासिकता सपुष्ट होती है। सुत्तनिपात की अट्ठकथा मे पिगी को अर्हत् कहा गया है।[२५४] अत. सम्भावना यह भी हो सकती है कि सुत्तनिपात के पिगी ही ऋषिभाषित के पिंग हो।

महाभारत मे पिगल नामक ऋषि का उल्लेख मिलता है।[२५५] किन्तु, इनकी ऋषिभाषित के पिग से कालिक एव अन्य आधारो पर एकरूपता बता पाना कठिन है।

३३. महाशालपुत्र अरुण

ऋषिभाषित का ३३वाँ अध्याय महाशालपुत्र अरुण के उपदेशो से सम्बन्धित है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त जैन आगमिक एव आगमेतर साहित्य मे अरुण का कोई उल्लेख उपलब्ध नही होता है। ऋषिभाषित मे इन्हे महाशालपुत्र अरुण कहा गया है।[२५६] प्रश्न यह है कि ये अरुण ऋषि कौन है ? वस्तुत. अरुण औपनिषदिक ऋषि है। शुब्रिग अरुण का तादात्म्य औपनिषदिक ऋषि आरुणि से करते है,[२५७] किन्तु यह मान्यता उचित नही है। क्योकि, आरुणि का दूसरा नाम उद्दालक भी है और ऋषिभाषित मे उद्दालक का स्वतन्त्र अध्याय है। स्वयं आरुणि शब्द भी यह सूचित करता है कि वे अरुण के पुत्र (वशज) या शिष्य होगे। अतः महाशालपुत्र अरुण आरुणि-उद्दालक के पिता एव गुरु है। वैदिक कोश और महाभारत नामानुक्रमणिका मे आरुणि-उद्दालक को एक व्यक्ति माना गया है और अरुण को उनका पिता कहा गया है।[२५८] शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार इनका पूरा नाम 'अरुण औपवेशि गौतम' था। उपवेशि के शिष्य होने से औपवेशि और गौतम गोत्र के होने से गौतम कहलाते हैं।[२५९] किन्तु, प्रश्न यह है कि ऋषिभाषित मे इनके नाम के साथ महाशालपुत्र नामक जो विशेषण जुड़ा है

---

२५४. (अ) सुत्तनिपात अट्ठकथा भाग २, पृष्ठ ६०३

(ब) Dictionary of Pali proper Names, Vol II P 199,

२५५ देखें—महाभारत नामानुक्रमणिका पृष्ठ १९७

२५६ ऋषिभाषित, ३३

२५७ इसिभासियाइ Introduction P. 4

२५८ देखें—(अ) वैदिककोश पृष्ठ ५६

(ब) महाभारत नामानुक्रमणिका पृष्ठ ३१, एव ४२

२५९ इन समस्त सन्दर्भों के लिए देखे—वैदिक कोश पृष्ठ २३

उसकी क्या सगति है ? छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार अश्वपति से शिक्षित ब्राह्मण महाशाल कहे जाते थे,[260] चूकि इनकी शिक्षा भी अश्वपति के द्वारा हुई है। यही कारण हो सकता है कि इन्हे महाशालपुत्र कहा गया हो। अत सिद्ध होता है कि ऋषिभाषित के महाशालपुत्र अरुण औपनिषदिक ऋषि अरुण औपवेशि गौतम है और आरुणि-उद्दालक के पिता एव गुरु है। इस अध्याय मे मिथिला अधिपति सजय का नाम भी आया है। इस सम्बन्ध मे हमने आगे ३९वे सजय नामक अध्याय के प्रसग मे विचार किया है।

जहाँ तक ऋषिभाषित मे प्रतिपादित अरुण ऋषि के उपदेशो का प्रश्न है, ये कहते है कि व्यक्ति के भाषा-व्यवहार और कर्म (आचरण) के आधार पर ही उसके पण्डित या मूर्ख होने का निर्णय किया जा सकता है। अशिष्ट वाणी, दुष्कर्म और कार्य-अकार्य के विवेक का अभाव ये मूर्ख के लक्षण है। इसके विपरीत शिष्ट-वाणी, सुकृत कर्म और धर्म-अधर्म का विवेक पण्डितजन के लक्षण है। इसके साथ ही इसमे यह भी बताया गया है कि व्यक्ति पर ससर्ग का सर्वाधिक प्रभाव पडता है। इस तथ्य को अनेक उदाहरणो से पुष्ट भी किया गया है। अन्त मे यह कहा गया है कि जितेन्द्रिय और प्रज्ञावान साधक को समत्व और अहिसा को सम्यक् प्रकार जानकर कल्याणकारी मित्रो का ही ससर्ग करना चाहिए[261]।

यद्यपि बौद्ध परम्परा मे अरुण नामक पाँच व्यक्तियो का उल्लेख प्राप्त होता है,[262] किन्तु उनके सम्बन्ध मे उपलब्ध विवरणो के आधार पर उनमे से किसी के भी साथ ऋषिभाषित के अरुण की सगति नही बैठती है। अत निष्कर्ष यही है कि ऋषिभाषित के महाशालपुत्र अरुण औपनिषदिक अरुण औपवेशि गौतम है।

३४. ऋषिगिरि

ऋषिभाषित के चौतीसवे अध्याय मे ऋषिगिरि नामक ब्राह्मण परिव्राजक के उपदेशो का सकलन है। ऋषिगिरि नामक ब्राह्मण परिव्राजक का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त अन्यत्र कही उपलब्ध नही होता है। यद्यपि ऋषिदत्त, ऋषिगुप्त आदि नामो के उल्लेख मिलते है, किन्तु इनकी ऋषिगिरि से कोई सगति बिठा पाना कठिन है। इसी प्रकार बौद्ध और वैदिक परम्परा मे भी हमे ऋषिगिरि नामक ब्राह्मण परिव्राजक का कोई उल्लेख नही मिला। अत इनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे किसी प्रकार की जानकारी दे पाना कठिन है।

---

२६० देखें—वैदिककोश पृष्ठ ३७३

२६१ ऋषिभाषित, ३३

२६२ देखें—Dictionary of Pali Proper Names, Vol I, P 182-184

जहाँ तक ऋषिगिरि के उपदेशो[२६३] का प्रश्न है, वे मूर्खो या दुष्टजनो द्वारा दिये गये कष्टो को समभावपूर्वक सहन करने का निर्देश देते है। वे कहते है कि यदि कोई परोक्ष मे निन्दा करता है, तो यह सोचकर समभाव धारण करना चाहिये कि वह प्रत्यक्ष मे तो आलोचना नही करता है । यदि कोई प्रत्यक्ष मे आलोचना करता है, तो यह सोचना चाहिए कि वह केवल शब्दो से निन्दा करता है, हमारे शरीर को तो पीडा नही पहुचाता है। यदि कोई पीडा पहुचाता है, तो यह सोचना चाहिये कि वह हमारा शस्त्र से अग-भग तो नही करता है। यदि कोई अग-भग करता है, तो सोचना चाहिए कि वह अग-भग करता है, किन्तु प्राण-हरण तो नही करता है। यदि वह प्राण-हरण करता है, तो यह सोचना चाहिए कि वह प्राण ही लेता है धर्मभ्रष्ट तो नही करता है। अज्ञानी तो मूर्ख स्वभाव के होते है, हिताहित का ज्ञान नही होता है, ऐसा समझकर उनके प्रति समभाव धारण करना चाहिए।

ज्ञातव्य है कि यही विवरण हमे पालि साहित्य मे भी मिलता है। जहाँ बुद्ध किसी भिक्षु से पूछते है कि यदि कोई तुम्हारी आलोचना करता है तो तुम क्या करोगे ? और वह कहता है कि यह सोचूगा कि वह मेरी आलोचना ही तो करता है, मुझे पीटता तो नही है। इसी प्रकार समग्र चर्चा वहाँ भी दोहराई गयी है। अन्तर मात्र यह है कि वहाॅ चर्चा भगवान बुद्ध और एक भिक्षु के मध्य है, जबकि प्रस्तुत अध्याय मे यह ऋषिगिरि के उपदेश के रूप मे वर्णित है।

इसके अतिरिक्त इस अध्याय मे लोक के स्वरूप को जानकर पाॅच महाव्रत से युक्त, कषायरहित, सयमी एवं जितेन्द्रिय बनने का निर्देश किया गया है । भोगो मे आसक्त दीन व्यक्ति कभी जीवन की आकाक्षा करता है, तो कभी मृत्यु की। और, इस प्रकार वह अपना ही नाश करता है। जबकि जो काम-वासनाओ मे लुब्ध नही होता है, वह छिन्न-स्रोत अनास्रवी मुक्ति को प्राप्त करता है । ऋषिगिरि का यह उपदेश सामान्य रूप मे अन्यत्र भी उपलब्ध है, अत. उपदेश के आधार पर उनकी किसी विशिष्ट अवधारणा का ज्ञान नही होता है।

३५. उद्दालक

ऋषिभाषित के ३५वे अध्याय मे उद्दालक (अद्दालअ) के उपदेश सकलित हैं। जैन आगमिक एव आगमेतर साहित्य मे ऋषिभाषित के अतिरिक्त अन्यत्र कही भी उद्दालक का उल्लेख नही मिलता है। वस्तुत उद्दालक एक औपनिषदिक ऋषि है। ये अरुण औपवेशि गौतम के पुत्र थे । इनका प्रसिद्ध नाम उद्दालक-आरुणि है। अरुण के पुत्र होने से उन्हे आरुणि कहा जाता है। इनका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण, कौषीतकि ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्

---

२६३ ऋषिभाषित, ३४,

आदि मे मिलता है।[२६४] ये अपने पिता अरुण, मद्रवासी, पतंचलकाप्य के शिष्य थे। इनके पुत्र श्वेतकेतु थे। यद्यपि इन्हे नचिकेता का भी पिता कहा गया है, किन्तु श्री सूर्यकान्त ने वैदिककोश मे इस सम्बन्ध मे सदेह प्रकट किया है।[२६५]

उद्दालक का उल्लेख पालि साहित्य के उद्दालक जातक मे मिलता है।[२६६] उसके अनुसार ये बनारस के राजा के पुरोहित के पुत्र थे, जो एक दासी से उत्पन्न हुए थे। पश्चात् शिक्षा हेतु तक्षशिला गये और शिक्षित होकर सन्यासियो के एक वर्ग के आचार्य बन गये। इन्होने वाराणसी तक की यात्रा की और जनता मे पर्याप्त प्रतिष्ठा अर्जित की। किन्तु, पुरोहित ने इनके छद्म जीवन की यथार्थता को जानकर सन्यास छोडने को विवश किया और अपने अधीन पुरोहित बना दिया। इसी सन्दर्भ मे श्वेतकेतु का उल्लेख आया है। वैदिक परम्परा मे श्वेतकेतु को उद्दालक पुत्र कहा गया है। इन सभी सन्दर्भों से ऐसा लगता है कि बौद्ध परम्परा मे इस कथानक को थोडा विकृत करके प्रस्तुत किया गया है।

इन सब आधारो पर हम यह कह सकते है कि ऋषिभाषित, जातक कथा और उपनिषदो मे उल्लेखित उद्दालक एक ही व्यक्ति है।

जहाँ उद्दालक के ऋषिभाषित मे उपलब्ध उपदेशो[२६७] का प्रश्न है, वहाँ सर्वप्रथम उन्होने क्रोधादि चार कषायो को वर्ज्य कहा है। जो इनका सेवन करता है वह ससार मे परिभ्रमण करता है और जो इनका सेवन नही करता है वह अक्रोधित, निरहकारी, अमायावी एव अलोभी साधक त्रिगुप्त, त्रिदण्डविरत, गारवरहित, चार विकथाओ से विरत, पाँच समितियो से युक्त और पाॅच इन्द्रियो से सवृत होकर, शरीर सधारणार्थ एव योग निर्वाहार्थ नवकोटि परिशुद्ध उद्गम-उत्पाद दोषरहित, विभिन्न ऊँच-नीच कुलो से प्राप्त परकृत, परनिसृत, विगत अङ्गार, विगत धूम, शस्त्रानीत, शस्त्र परिणत भिक्षा (पिण्ड), शय्या और उपधि का भोग करता है। इसके पश्चात् इसमे स्वार्थ और परार्थ की समस्या की चर्चा करते हुए आत्मार्थ के साधन का निर्देश दिया गया है। इनका मन्तव्य है कि आत्मार्थी ही सच्चे अर्थों मे लोकमगल कर सकता है। जो व्यक्ति अपनी वासनाओ और कषायो मे नियन्त्रण नही रख पाता है, वह कैसे लोक-कल्याण (परार्थ) करेगा ? आत्मार्थ के बिना परार्थ तो बन्धन का ही कारण बनता है। क्योकि, परिशुद्ध आत्मा ही स्व-पर दोनो के लिए शान्ति प्रदाता होता है।

---

२६४ देखें—वैदिक कोश पृष्ठ ५६

२६५ वही पृष्ठ ५६

२६६ देखें—(अ) Dictionary of Poli proper Names, Vol I P. 383

(ब) जातक स ४८७

२६७ ऋषिभाषित ३५

इस अध्याय मे पाँच इन्द्रियो, सज्ञाओ (मन की आकाक्षाओं) त्रिदण्ड, त्रिशल्य, त्रिगर्व और बावीस परिषहो को चोर कहा गया है, क्योकि ये आत्मशान्ति रूपी धन की चोरी करते है । अत अन्त मे साधक को सर्वत्र जाग्रत रहने का सदेश दिया गया है ।

इस अध्याय की विशेषता यह है कि इसमे जैन आचार की परम्परागत शब्दावली का ही प्रयोग देखा जाता है । अत यह विचार हो सकता है कि क्या ग्रन्थकर्त्ता ने उद्दालक के मुख से अपनी ही मान्यताओ का प्रतिपादन करवाया है या उनकी अपनी मान्यताये ही थी ? साधक और बाधक प्रमाणो के अभाव मे आज इस सम्बन्ध मे निर्णयात्मक रूप से कुछ भी कह पाना कठिन है । फिर भी इस सम्भावना से इन्कार नही किया जा सकता है कि जैन परम्परा ने अपनी समकालीन परम्पराओ से पर्याप्त रूप से ग्रहण किया होगा ।

३६. नारायण (तारायण)

ऋषिभाषित का छत्तीसवा अध्ययन नारायण (तारायण) ऋषि के उपदेशो से सम्बन्धित है । जैन साहित्य मे ऋषिभाषित के अतिरिक्त नारायण ऋषि का उल्लेख सूत्रकृताग[२६८] एव सूत्रकृताग चूर्णि[२६९] मे मिलता है । ऋषिभाषित मे इनके नाम के पूर्व 'वित्त' विशेषण लगाया गया है, किन्तु इसका क्या तात्पर्य है यहाँ स्पष्ट नही है । सूत्रकृताग मे इनका उल्लेख नमि, असित देवल, बाहुक आदि के साथ हुआ है । सूत्रकृताग और ऋषिभाषित दोनो से यह स्पष्ट है कि ये जैनेतर परम्परा के ऋषि हैं तथापि इन्हे जैन परम्परा मे सम्मानित रूप मे देखा जाता था ।

नारायण ऋषि के उपदेश का मुख्य प्रतिपाद्य क्रोधाग्नि की दुर्निवार्यता है ।[२७०] कहा गया है कि अग्नि को जल से शान्त किया जा सकता है, किन्तु क्रोधाग्नि का निवारण कठिन है । अग्नि तो एक ही भव (जीवन) को समाप्त करती है, किन्तु क्रोधाग्नि तो अनेक भवो को समाप्त करती है । अग्नि से जला हुआ शान्ति प्राप्त कर लेता है, किन्तु क्रोधाग्नि से जला हुआ तो बार-बार दु ख (अशान्ति) का अनुभव करता है । सामान्य अन्धकार तो ज्योति या मणि से दूर किया जा सकता है, किन्तु क्रोध रूपी अन्धकार तो दुर्निवार्य है । पुन , क्रोध अपने को और दूसरो को दोनो को जलाता है । उसके कारण धर्म, अर्थ और काम तीनो ही पुरुषार्थ नष्ट हो जाते है अत क्रोध का निरोध करना चाहिए ।

---

२६८ सूत्रकृताग १/३/४/२

२६९ सूत्रकृताग चूर्णि पृष्ठ १२०

२७० ऋषिभाषित ३६

यद्यपि जैन परम्परा मे आठवे वासुदेव का नाम भी नारायण है, जिन्हे लक्ष्मण भी कहा गया है, किन्तु ऋषिभाषित के नारायण (तारायण) इनसे भिन्न है। इनकी पहचान वैदिक परम्परा के नारायण ऋषि से की जा सकती है। वैदिक या हिन्दू परम्परा मे नारायण स्वय ईश्वर का ही नाम है, किन्तु उसमे नारायण नामक ऋषि भी हुए है, जिन्हे भी ईश्वर का अवतार माना जाता है। सामान्यतया इन्हे नर-नारायण नामक ऋषि-युगल के रूप मे जाना जाता है।[२७१] इन्होने बद्रिकाश्रम मे रहकर सहस्रो वर्षो तक तप किया है।[२७२] शान्तिपर्व मे नारद के साथ इनके सवाद का उल्लेख है।[२७३] तैत्तिरीय आरण्यक का दसवा प्रपाठक नारायणोपनिषद के नाम से प्रसिद्ध है।[२७४]

बौद्ध परम्परा मे नारायण नामक ऋषि के सम्बन्ध मे कोई जानकारी नही मिलती है। अन्यत्र उपलब्ध विवरणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूत्रकृताग और ऋषिभाषित मे उल्लेखित नारायण (तारायण) हिन्दू परम्परा के नारायण नामक ऋषि ही है।

३७. श्रीगिरि

ऋषिभाषित का सैतीसवा अध्याय श्रीगिरि नामक ब्राह्मण परिव्राजक से सम्बन्धित है। यह अध्याय तेतलीपुत्र (१०), बाहुक (१४), उत्कटवादी (२०), एव पार्श्व (३१) अध्ययन के समान पूर्णत गद्यरूप मे है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त श्रीगिरि का उल्लेख न तो जैन साहित्य मे कहीं उपलब्ध होता है और न बौद्ध एव वैदिक साहित्य मे ही। अत. श्रीगिरि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे हमे कोई जानकारी किन्ही भी स्रोतो से उपलब्ध नही है।

प्रस्तुत अध्याय के प्रथम भाग मे हमे सृष्टि सम्बन्धी तीन सिद्धान्तो का उल्लेख मिलता है।[२७५] इसमे कहा गया है कि (१) सर्वप्रथम जल ही था उसमे अण्डा प्रकट हुआ, फिर लोक (सृष्टि) उत्पन्न हुआ और वह सश्वसित (जीवन युक्त) हुआ—ऐसा वरुण विधान नही है। यहाँ श्रीगिरि सृष्टि की जल एव अण्डे से उत्पत्ति होने सम्बन्धी अवधारणा का खण्डन करते है। यह स्पष्ट है कि सृष्टि सम्बन्धी यह अवधारणा औपनिषदिक चिन्तन मे उपस्थित थी। सूत्रकृताग

---

२७१ देखें—महाभारत नामानुक्रमणिका पृष्ठ १७५

२७२ महाभारत वन पर्व ७२/३३९

२७३ महाभारत शाति पर्व ३३४/१३–१५

२७४ देखें, वैदिक कोष पृ २४४

२७५ ऋषिभाषित ३७

मे भी इस अवधारणा को प्रस्तुत करके उसका खण्डन किया गया है।[२७६] (२) सृष्टि सम्बन्धी दूसरी अवधारणा 'माया' की है—सृष्टि को माया से प्रसूत कहा जाता है, किन्तु श्रीगिरि इसका खण्डन करते हुए कहते है कि यह विश्व माया नही है। इस प्रकार इन दो अवधारणाओ का खण्डन करने के पश्चात् वे अपनी तीसरी अवधारणा शाश्वतवाद की प्रस्तुत करते हुए कहते है कि (३) ऐसा नही था कि विश्व कभी नही था, कभी नही है अथवा कभी नही रहेगा। इस प्रकार यहाँ सृष्टि को शाश्वत स्वीकार किया गया है। यह अवधारणा पार्श्व की भी थी, जिसका भगवती सूत्र (५/९) मे महावीर ने भी समर्थन किया था। वैदिक परम्परा मे यह अवधारणा मीमांसा दर्शन के निकट है। उपनिषदो मे भी इसका उल्लेख मिलता है।

श्रीगिरि के आचार सम्बन्धी उपदेशो से ऐसा लगता है कि वे वैदिक कर्मकाण्ड के समर्थक थे, फिर भी उनके द्वारा प्रस्तुत अग्निहोत्र (यज्ञ) मे प्राणी हिंसा का विधान नही है। वे कहते है—उभय काल, उभय सन्ध्या मे दूध, मक्खन, मधु, क्षार, शख और समिधा को एकत्रित कर उन्हे समर्पित करता हुआ अग्निहोत्र कुण्ड को जागृत रखते हुए मै रहूँगा। इसीलिए मै यह सब कहता हूँ जिसे सुनकर साधक सूर्य के साथ गमन करे, जहाँ रात्रि हो जावे वही रुक जाये और सूर्य के उदित होने पर प्राची, प्रतीचि, उत्तर या दक्षिण दिशा मे युगमात्र (चार हस्त प्रमाण भूमि) को देखता हुआ यथारीति विचरण करे। सूर्य के साथ गमन की यह बात प्रकारान्तर से जैन परम्परा मे 'कप्प' (दशाश्रुतस्कन्ध ५/६–८), निसीह (निशीथ १०/३१–३४) और दसवेयालिय (दशवैकालिक ८/२८) मे भी उपलब्ध है।[२७७] सामान्यतया यह अवधारणा उस युग के सभी श्रमण ब्राह्मण परिव्राजको मे प्रचलित थी। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से श्रीगिरि के विचारो की प्रामाणिक जानकारी होते हुए भी हमे उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नही है।

३८. सारिपुत्र (सातिपुत्त)

ऋषिभाषित का अडतीसवा अध्याय सारिपुत्र (सातिपुत्त) अर्हत् बुद्ध के उपदेशो से सम्बन्धित है। ये सातिपुत्त निश्चय ही बौद्ध परम्परा के सारिपुत्र ही है। इनके नाम के साथ लगा 'बुद्ध' विशेषण और इनके विचारो की बौद्ध परम्परा से समानता इस तथ्य के महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त सारिपुत्र का उल्लेख आवश्यक चूर्णि मे प्राप्त होता है।[२७८] उसमे इन्हे बुद्ध का अनुयायी बताया

---

२७६ सूत्रकृताग १/१

२७७ देखे—इसिभासियाइ (शुब्रिग) पृ ११८

२७८ आवश्यकचूर्णि I पृ ८२

है। इसी प्रकार आचाराग शीलाङ्क टीका मे भी इनका उल्लेख है।[२७९] इसके अतिरिक्त साईदत्त (स्वातिदत्त) नामक चम्पा के निवासी एक ब्राह्मण का भी उल्लेख मिलता है। महावीर ने उसकी शाला मे एक चातुर्मास किया था।[२८०] किन्तु, इनकी सातिपुत्त या सारिपुत्त के साथ एकरूपता स्थापित कर पाना कठिन है।

सारिपुत्र के सम्बन्ध मे विस्तृत विवरण बौद्ध परम्परा मे उपलब्ध है। 'डिक्शनरी ऑफ पालि प्रापर नेम्स्' मे इनके सम्बन्ध मे पालि साहित्य के आधार पर जो विवरण उपलब्ध है वह भी १० पृष्ठो मे है।[२८१] विस्तार भय से वह सब विवरण यहाँ दे पाना कठिन है। हम मात्र कुछ प्रमुख तथ्यो का ही उल्लेख करेगे। बौद्ध परम्परा मे इन्हे बुद्ध के दो अग्र श्रावको मे स्थान देकर इनका सम्मान किया गया है। इन्हे नालक ग्राम के ब्राह्मण वङ्गन्त के पुत्र कहा गया है। इनकी माता का नाम रूपसारी था। अपनी माता के नाम पर ये सारिपुत्र के नाम से प्रसिद्ध हुए। बुद्ध ने इन्हे धर्म-सेनापति और महाप्रज्ञावान कहा था। बौद्ध धर्म सघ मे प्रवेश करने के पूर्व ये सञ्जय के शिष्य थे। सञ्जय का उल्लेख भी ऋषिभाषित मे अर्हत् ऋषि के रूप मे हुआ है।[२८२] बरुआ ने इन सञ्जय को बुद्ध के समकालीन छह तीर्थकरो मे से एक सञ्जय वेलट्ठिपुत्त माना है।[२८३] मेरी दृष्टि मे भी यही सञ्जय सारिपुत्र के पूर्व गुरु होगे, जिन्हे सारिपुत्र ने बुद्ध से मिलने के लिए आमन्त्रित किया था, किन्तु इन्होने इससे इन्कार कर दिया था। पालि साहित्य मे सारिपुत्र के उपदेश और दार्शनिक विचार विस्तार से उपलब्ध है। ऋषिभाषित के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

ऋषिभाषित मे सारिपुत्र के उपदेश का मुख्य प्रतिपाद्य अतियो से बचकर मध्यम मार्ग की साधना है।[२८४] यह उपदेश बौद्ध धर्म का केन्द्रीय तत्त्व है। वे कहते है जिस सुख से सुख प्राप्त होता है वही आत्यन्तिक सुख है, किन्तु जिस सुख से दु ख प्राप्त हो, उसका समागम न हो। इस कथन का वक्तव्य यही है कि, दु ख प्रदाता सुख वरेण्य न होकर सुख प्रदाता सुख ही वरेण्य है। सुख से सुख प्राप्त होता है, दु ख से सुख प्राप्त नही होता है। इसीलिये वे आगे कहते है कि मनोज्ञ भोजन कर, मनोज्ञ शय्या और आवास मे रहकर भिक्षु समाधि पूर्वक ध्यान करता है। जबकि

---

२७९ आचाराग शीलाङ्क टीका पृ १३५

२८० (अ) आवश्यक चूर्णि I पृ ३१६, ३२० (ब) विशेषावश्यक भाष्य गाथा १९७९

२८१ Dictionary of Pali Proper Names-II, P P. 1108–1118

२८२ ऋषिभाषित ३९

२८३ Dictionary of Pali Proper Names Vol II, P 1000

२८४ देखे–ऋषिभाषित ३८

अनमोज्ञ भोजन, शय्या और आवास मे रहकर वह दु खपूर्वक ध्यान करता है। यहाँ स्पष्ट रूप से निर्ग्रन्थो की देह-दण्डन की प्रक्रिया का विरोध परिलक्षित होता है। यद्यपि इसका तात्पर्य यह नही है कि सारिपुत्र भोग मार्ग के समर्थक है। अग्रिम गाथाओ मे उन्होने इन्द्रिय सयम का उपदेश दिया है। वे कहते हैं, अप्रमत्त (जागृत) प्रज्ञावान साधक को इन्द्रियो के विषयो मे लुब्ध नही होना चाहिए, उनमे आसक्ति का त्याग करना चाहिए। क्योकि, अप्रमत्त साधक की सुप्त पचेन्द्रिया अल्प दु.ख का कारण होती है। पुन. साधना का उद्देश्य सुख-दु ख का अतिक्रमण बताते हुए कहा गया है—जिस प्रकार व्याधि को शान्त करने के लिए कटु या मधुर जैसी भी औषधि वैद्य द्वारा निर्देश हो सेवन की जाती है, उसी प्रकार मोह रूपी व्याधि के उपशमन के लिए ज्ञानीजनो द्वारा उपदिष्ट कठोर (कष्टप्रद) या सरल (सुखप्रद) साधना की जाती है। जिस प्रकार चिकित्सा का उद्देश्य रोग-शमन है, सुख और दु.ख नही है, यद्यपि चिकित्सा काल मे सुख-दु.ख होते है, उसी प्रकार साधना का उद्देश्य मोह प्रहाण है, सुख या दु ख नही, यद्यपि साधना काल मे सुख-दु ख होते है। इस प्रकार साधक को सुख-दु.ख से परे रहने को कहा गया है। सामान्यजनों का सवेग (पाप से भय), उत्तमजनो का निर्वेद (वैराग्य), यदि आकाक्षा युक्त है तो वे दीनभाव हैं। सारिपुत्र अरण्यवास और आश्रमवास की अवधारणाओ मे मध्यस्थ भाव रखते हुए कहते हैं—दमितेन्द्रिय वीर पुरुष के लिए क्या जगल और क्या आश्रम ? स्वभावभावित आत्मा के लिए अरण्य और ग्राम दोनो ही समान है। ऐसी आत्मा तो मुनिवेश और परिवार कही भी रहकर विशुद्धि प्राप्त कर सकती है।

इस प्रकार सारिपुत्र साधनो पर वल न देकर साधना मे चित्तवृत्ति की विशुद्धि पर वल देते है जोकि बौद्ध धर्म-दर्शन की विशेपता है।

उपर्युक्त विवरणो से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ये सारिपुत्र बौद्ध परम्परा के सारिपुत्र ही है। इसका आधार यह है कि इस अध्याय की प्रारम्भिक गाथाए वौद्ध मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए शीलाङ्क की सूत्रकृताग टीका मे तथा षड्दर्शन समुच्चय की टीका मे कुछ शाब्दिक परिवर्तन के साथ उपलब्ध होती है। परम्परागत मान्यता के अनुसार इन्हे महावीर के काल का अर्हत् ऋषि या प्रत्येकवुद्ध माना जाता है। बुद्ध के समकालीन होने से ये स्वत महावीर के समकालीन भी सिद्ध हो जाते है।

३९. संजय

ऋषिभाषित का उन्तालीसवा अध्याय सजय नामक अर्हत् ऋषि से सम्वन्धित है। सजय का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त उत्तराध्ययन मे भी उपलब्ध है।[२८५] यद्यपि जैन परम्परा मे सजय नामक अनेक व्यक्तियो के उल्लेख

---

२८५. देखें—उत्तराध्ययन अध्याय १८

मिलते है, किन्तु उनकी ऋषिभाषित के सजय के साथ कोई संगति नही बैठती है। यद्यपि इस सम्बन्ध मे सशय का कोई अवकाश नही है कि उत्तराध्ययन के १८वे अध्याय मे उल्लेखित सजय और ऋषिभाषित के सजय एक ही व्यक्ति है। उत्तराध्ययन के अनुसार ये कम्पिलपुर के राजा थे। किसी समय शिकार के लिए केशर उद्यान मे गये। वहाँ उन्होने हरिण का शिकार किया। मृत हरिण को वहाँ ध्यानस्थ गर्दभिल्ल नामक आचार्य के चरणो के निकट देखकर ये मुनि के शाप के भय से भयभीत हुए। मुनि से क्षमायाचना की। आचार्य के अभय और अहिसा के उपदेश से प्रभावित हो, राज्य का परित्याग कर उनके चरणो मे दीक्षित हो गये। मृग-वध की यह बात वे ऋषिभाषित के इस अध्याय की पाचवी गाथा मे स्वीकार करते है और कहते है—मुझे सुस्वादु भोजन एव भव्य (भद्र) आवासो से कोई प्रयोजन नही, जिनके कारण मृग का वध करने के लिए सजय जगल मे जाता है।[२८६] ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन मे वर्णित सजय की एकरूपता के लिए इससे अधिक किसी अन्य प्रमाण की कोई आवश्यकता नही रह जाती है। उत्तराध्ययन के उस अध्याय को 'सयतीय' कहा जाता है यह ठीक नही है, उसे 'सजयीय' कहना चाहिए। उत्तराध्ययन के अनुसार ये गर्दभिल्ल के शिष्य हैं। ऋषिभाषित के ही ३३वे अध्याय मे यह उल्लेख है कि कल्याण-मित्रो के ससर्ग से मिथिलापति सजय देवलोक को प्राप्त हुए (३३/१६)। किन्तु, ये सजय मिथिला के राजा है जबकि उत्तराध्ययन के सजय कम्पिलपुर के राजा है, अत दोनो को एक मानने मे बाधा आती है। मेरी दृष्टि मे ३३वे अध्याय मे उल्लेखित सजय ३९वे अध्याय के प्रवक्ता सजय से भिन्न होगे।

बौद्ध परम्परा मे हमे सजय नामक ७ व्यक्तियो का उल्लेख मिलता है,[२८७] किन्तु उनमे से सारिपुत्र के पूर्व-गुरु और सजय वेलट्ठिपुत्त के नाम से प्रसिद्ध सजय के अतिरिक्त अन्य किसी सजय से ऋषिभाषित मे उल्लेखित सजय की एकरूपता स्थापित कर पाना कठिन है। बौद्ध विद्वानो मे इस सम्बन्ध मे अधिक मतभेद नही है कि सारिपुत्र के पूर्व-गुरु और सजय वेलट्ठिपुत्त एक ही व्यक्ति है। ये बुद्ध के समकालीन छह तीर्थंकरो मे एक माने गये है, अत दोनो मे कालिक समानता तो है ही। साथ ही सारिपुत्र और मोग्गलायन के साथ इनके २५० शिष्यो का बुद्ध के सघ मे प्रवेश भी इस तथ्य का सूचक है कि ये अपने युग के प्रभावशाली आचार्य थे। अत यह निर्विवाद है कि सारिपुत्र के पूर्व-गुरु और सजय वेलट्ठिपुत्त एक ही व्यक्ति है। अब प्रश्न यह है कि क्या ये और ऋषिभाषित के सजय भी एक ही व्यक्ति है? यदि हम इस परम्परागत मान्यता को स्वीकृत करते हैं कि ऋषिभाषित के सजय महावीर के समकालीन है, तो बुद्ध के समकालीन और सारिपुत्र के पूर्व-गुरु

---

२८६ जत्थ मिए काणणोसिते उवणामेति वहाए सजए। —ऋषिभाषित ३९/५

२८७ देखे—Dictionary of Pali Proper Names Vol II. P P 998–1000.

सजय वेलट्ठिपुत्त से इनकी एकरूपता स्थापित करने मे कालिक दृष्टि से कोई बाधा नही आती है। चूकि, यदि ऋषिभाषित मे महावीर के समकालीन मखलि गोसाल के विचार सकलित हो सकते है, तो उसमे सजय वेलट्ठिपुत्त के विचारो को सकलित होने मे कोई आपत्ति नही हो सकती है। बौद्ध परम्परा मे सजय को विक्षेपवादी या सशयवादी कहा गया है, क्योकि वे तात्त्विक प्रश्नो के निश्चयात्मक या एकान्तिक उत्तर नही देते थे। आज की भाषा मे वे किसी तात्त्विक समस्या के सम्बन्ध मे विविध विकल्पो की सम्भावना को देखते होगे, अत. निश्चयात्मक भाषा का प्रयोग नही करते होगे। ऋषिभाषित मे उनकी इस प्रकार की दृष्टि के प्रमाण उनके निम्नलिखित शब्दो मे मिलते है—पाप कर्म को सम्यक् रूपेण जान पाना रहस्यमय है,[२८८] क्योकि कर्म का (अच्छा या बुरा होने का निर्णय) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अध्यवसाय आदि की दृष्टि से सम्यक् विचार करने पर ही हो सकता है। ऋषिभाषित मे प्रयुक्त 'रहस्से' शब्द विशेष रूप से विचारणीय है। यहाँ 'समज्जिणित्ता' की जगह 'सम्म जाणित्ता' पद अधिक उपयुक्त होगा। (देखे—गाथा ४ के पश्चात् का गद्य भाग)

ऋषिभाषित मे सजय का उपदेश अति सक्षिप्त है। उसमे कहा गया है–पाप कृत्य न तो करना चाहिए और न करवाना चाहिए। यदि करना पडा हो या कर लिया हो तो उसे बार-बार न करे और उसकी आलोचना करे।

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन मे उल्लेखित सजय ऋषि एक ही है और सम्भावना यही है कि वे ही सारिपुत्र के पूर्व गुरु और बुद्ध के समकालीन छह तीर्थकरो मे से एक सजय वेलट्ठिपुत्त हो। वैदिक परम्परा मे महाभारतकालीन धृतराष्ट्र के मत्री सजय का उल्लेख तो मिलता है,[२८९] किन्तु ये कालिक एव अन्य दृष्टियो से ऋषिभाषित के सजय से भिन्न ही है।

४०. द्वैपायन (दीवायण)

ऋषिभाषित के ४०वे अध्याय मे द्वैपायन नामक ऋषि के उपदेशो का सकलन है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त द्वैपायन (दीवायण) का उल्लेख सूत्रकृताग,[२९०] समवायाग,[२९१] औपपातिक,[२९२] अन्तकृद्दशा,[२९३] दशवैकालिक

---

२८८ रहस्से खलु भो पावकम्म... । —ऋषिभाषित ३९

२८९ महाभारत नामानुक्रमणिका–पृ ३६४–३६५

२९० सूत्रकृताग १/३/४/३

२९१ समवायाग सूत्र १५९ (प्रकीर्णक समवाय)

२९२ औपपातिक सूत्र ३८

२९३ अन्तकृत्दशा वर्ग २

चूर्णि,[२६४] सूत्रकृताग चूर्णि,[२६५] मे मिलता है। इतना निश्चित है कि सर्वत्र इन्हे निर्ग्रन्थ परम्परा से भिन्न परम्परा के ऋषि कहा गया है। सूत्रकृताग मे इनका उल्लेख नमि, बाहुक, असित देवल, नारायण, पाराशर आदि ऋषियो के साथ हुआ है और यह कहा गया है कि इन्होने सचित्त जल एव फल आदि का उपभोग करते हुए सिद्धि प्राप्त की। समवार्याग के अनुसार ये आगामी उत्सर्पिणी काल मे तीर्थकर होगे। औपपातिक मे इन्हे ब्राह्मण परिव्राजको की एक परम्परा का प्रणेता कहा गया है। अन्तकृत्‌दशा, दशवैकालिक चूर्णि आदि मे यह कहा गया है कि यादवो ने इनकी साधना मे विघ्न उपस्थित किये। परिणाम स्वरूप इन्होने द्वारिका के विनाश का निदान कर लिया और मर कर ये अग्निकुमार देव हुए और द्वारिका का विनाश किया। यद्यपि इन ग्रन्थो मे इनके जीवन की विविध घटना-क्रमो के आधार पर इनके व्यक्तित्व की एकरूपता को देखने का प्रयास नही हुआ है, किन्तु मेरी दृष्टि मे ये सभी उल्लेख एक ही द्वैपायन के सन्दर्भ मे है। इनके सम्बन्ध मे परम्परागत यह धारणा कि, ये महावीर के काल मे हुए, भ्रान्त है। उपरोक्त सन्दर्भो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये औपनिषदिक काल के पूर्व महाभारत काल के ऋषि रहे होगे।

बौद्ध परम्परा मे कण्ह दीपायण नाम के दो व्यक्तियो के उल्लेख है।[२६६] कृष्ण द्वैपायन (कण्ह दीपायण) जातक मे जो कण्ह दीपायण की कथा दी गई है, उसका ऋषिभाषित और जैन परम्परा मे उल्लेखित द्वैपायन (दीवायण) से कोई सम्बन्ध नही है। किन्तु, जातक मे ही कण्ह दीपायण की एक अन्य कथा भी दी गई जिसमे उनका सम्बन्ध द्वारिका (द्वारवती) एव वासुदेव के वश (यादव वश) के विनाश से दिखाया गया है। थोडे बहुत परिवर्तनो के साथ यह कथा जैन, बौद्ध और वैदिक तीनो परम्परा मे पाई जाती है।

वैदिक परम्परा मे कृष्ण द्वैपायन या द्वैपायन का उल्लेख महाभारभ मे विस्तार से मिलता है।[२६७] वैदिक परम्परा मे इनका प्रचलित नाम व्यास अथवा वेद व्यास है। इन्हे महर्षि पाराशर का पुत्र तथा महाभारत का रचयिता भी माना जाता है। इन्होने भीष्म की आज्ञा से विचित्रवीर्य की पत्नियो से धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर ये पुत्र उत्पन्न किये थे। शुकदेव को भी इनका पुत्र कहा जाता है। वैशम्पायन इनके प्रमुख शिष्य थे। महाभारत इनके जीवन और उपदेशो का विस्तृत विवरण है, यद्यपि उसमे पौराणिक पक्ष अधिक और ऐतिहासिक पक्ष कम है।

---

२६४ दशवैकालिक चूर्णि पृ. ४१

२६५ सूत्रकृताग चूर्णि पृ १२०

२६६ देखे–Dictionary of Pali Proper Names, Vol I P P 501–502

२६७ देखें–महाभारत नामानुक्रमणिका पृ ८७, १६२

जन, बौद्ध और वैदिक तीनो परम्पराओ मे इनके उल्लेख से यह माना जा सकता है कि ये प्राक् ऐतिहासिक काल के कोई ऐतिहासिक व्यक्ति है। यद्यपि औपनिषदिक प्राचीन साहित्य मे इनके नाम का उल्लेख न होना विचारणीय अवश्य है, यद्यपि उसमे इनके पिता पाराशर और पाराशरी पुत्रो का उल्लेख है।[२९८]

ऋषिभाषित मे इनका जो उपदेश सकलित है, उसमे इच्छा को अनिच्छा मे परिवर्तित करने का निर्देश है।[२९९] दूसरे शब्दो मे ये आकाक्षा के प्रहाण का उपदेश देते है। उनका कथन है कि इच्छाओ के कारण ही प्राणी दुख पाता है। इच्छाओ के वशीभूत हो माता-पिता, गुरुजन, राजा और देवता सभी की अवमानना कर देता है। इच्छा ही धनहानि, बन्धन, प्रिय वियोग और जन्म-मरण का मूल है। अत इच्छाओ पर विजय प्राप्त करना चाहिये, क्योकि इच्छारहित होना ही सुख का मूल है। इस अध्याय की गाथा २ एव ३ कुछ शाब्दिक परिवर्तन के साथ ऋषिभाषित के ३६वे अध्याय की गाथा १३-१४ के रूप मे मिलती है। इसी प्रकार इसका 'जहा थाम जहा वल जधा विरिय' वाक्याश दशवैकालिक मे भी मिलता है।

४१. इन्द्रनाग (इंदनाग)

ऋषिभाषित का ४१वा अध्याय इन्द्रनाग नामक अर्हत् ऋषि से सम्बन्धित है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त इन्द्रनाग का उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति,[३००] विशेषावश्यक भाष्य,[३०१] आवश्यक चूर्णि,[३०२] आवश्यक हरिभद्रीयवृत्ति[३०३] और आचाराग की शीलाङ्क टीका मे मिलता है।[३०४] ये बाल तपस्वी के रूप मे प्रसिद्ध थे। गणधर गौतम ने इनसे सम्पर्क स्थापित किया था। इन्हे जीर्णपुर (जिण्णपुर) का निवासी बताया गया है। बौद्ध एव वैदिक परम्परा मे हमे इनका कोई उल्लेख उपलब्ध नही हुआ। जैन स्रोतो से यह भी निश्चित हो जाता है कि ये महावीर के समकालीन थे, जिसे परम्परागत रूप मे मान्य किया गया है।

जहाँ तक ऋषिभाषित मे उपलब्ध इन्द्रनाग के उपदेशो का प्रश्न है, वे सर्वप्रथम यह बताते है कि आजीविका के लिए किया जाने वाला तप तथा सुकृत

---

२९८ बृहदारण्यकोपनिषद् ६/५/१
२९९ ऋषिभाषित ४०
३०० आवश्यक निर्युक्ति ८४७
३०१ विशेषावश्यक भाष्य ३२९०
३०२ आवश्यक चूर्णि I पृ १२, १३४, १३९ एव ४६६
३०३ आवश्यक हरिभद्रीयवृत्ति पृ ३४७
३०४. आचाराग शीलाक टीका पृ १७९

निरर्थक है। विषय-वासना मे डूबा हुआ प्राणी अपना विनाश ही करता है। मुनिवेश को आजीविका का साधन नही बनाना चाहिए। मुनि को विद्या, तन्त्र-मन्त्र, दूत-कर्म, भविष्य फल कथन आदि से भी आजीविका प्राप्त नही करनी चाहिए। इस प्रकार इनके उपदेश का सार लोकैषणा से उपर उठकर सयम की साधना है। सामान्य रूप से यह उपदेश अनेक प्रसगो मे पाया जाता है। इस अध्याय की गाथा १३ उत्तराध्ययन और धम्मपद मे यथावत् रूप मे मिलती है। इसी प्रकार १६वी गाथा ऋषिभाषित के जण्णवक्क (याज्ञवल्क्य) नाम १२वे अध्याय मे तथा कुछ शाब्दिक परिवर्तन के साथ दशवैकालिक मे भी मिलती है।

४२–४५ सोम, यम, वरुण एवं वैश्रमण

ऋषिभाषित के अन्तिम चार अध्याय क्रमश सोम, यम, वरुण और वैश्रमण से सम्बन्धित है। यद्यपि प्रस्तुत अध्यायो मे इन्हे अर्हत् ऋषि कहा गया है और सग्रहणी गाथा के अनुसार ये चारो प्रत्येकबुद्ध भगवान महावीर के युग मे हुए, ऐसा माना जाता है। किन्तु, इनकी ऐतिहासिकता के सम्बन्ध मे हमे किन्ही भी स्रोतो से कोई भी जानकारी उपलब्ध नही होती है। यद्यपि जैन साहित्य मे सोम नामक ब्राह्मण के पार्श्व की परम्परा मे दीक्षित होने के उल्लेख है और यह भी माना गया है कि ये अपनी मृत्यु के पश्चात् शुक्र के रूप मे उत्पन्न हुए।[३०५] इसी प्रकार वरुण का उल्लेख एक श्रमणोपासक के रूप मे हुआ है, जो रथ-मूसल सग्राम मे मारा गया था और मर कर देव हुआ। इसका विश्वास था कि युद्ध मे मरने पर स्वर्ग मिलता है।[३०६] इसी प्रकार यमदग्नि के पिता के रूप मे यम का भी उल्लेख है।[३०७] यद्यपि ये ही व्यक्ति ऋषिभाषित के ऋषि है ऐसा स्पष्टतया प्रतीत नही होता है। इसी प्रकार बौद्ध परम्परा मे भी सोम, वरुण आदि नाम के कुछ व्यक्तियो का उल्लेख है, किन्तु उनका सम्बन्ध ऋषिभाषित के इन ऋषियो से जोड पाना कठिन है। वस्तुत. जैन, बौद्ध एव वैदिक तीनो परम्पराओ मे इन्हे लोकपाल के रूप मे स्वीकृत किया गया है। यद्यपि जहाँ जैन परम्परा मे सोम, यम, वरुण और वैश्रमण—ये चार लोकपाल है,[३०८] वहाँ वैदिक परम्परा मे इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण ये चार लोकपाल है।[३०९] इन्हे धर्मोपदेष्टा माना गया है। उपनिषदो मे यम नचिकेता सम्वाद प्रसिद्ध है। फिर भी ये चारो पौराणिक ही है, ऐतिहासिक व्यक्ति नही है। लोकपालो को

---

३०५ देखे–Prakrit Proper Names, Vol, II P 864

३०६ Igid Vol II–P P 677–678

३०७ आवश्यकचूर्णि भाग १, पृ ५१६

३०८ (अ) Prakrit Proper Names-Vol II P 657,
(ब) भगवती सूत्र ४१७–४१८

३०९ महाभारत नामानुक्रमणिका पृ २९१

धर्मोपदेशक माने जाने के कारण ही इन्हे ऋषिभाषित मे स्थान दिया गया होगा। वैसे इनके साथ लगा अर्हत् ऋषि पद विचारणीय है।

जहाँ तक इन चारो ऋषियो के उपदेशो का प्रश्न है वहाँ प्रथम तीन अर्थात् सोम, यम और वरुण के उपदेश मात्र एक-एक गाथा मे मिलते है। मात्र वैश्रमण का उपदेश विस्तार से ५३ गाथाओ मे मिलता है।

सोम का उपदेश है कि साधक ज्येष्ठ, मध्यम या कनिष्ठ किसी भी पद पर हो, अल्प से अधिक प्राप्त करने का प्रयत्न करे।[३१०]

यम कहते है जो लाभ मे प्रसन्न और अलाभ मे कुपित नही होता है वही मनुष्यो मे श्रेष्ठ है।[३११]

वरुण का कथन है कि जो राग-द्वेष से अप्रभावित रहता है वही सम्यक् निश्चय कर पाता है।[३१२]

जहाँ तक वैश्रमण के उपदेशो का प्रश्न है। वे सर्वप्रथम तो काम के निवारण और पाप कर्म नही करने का सामान्य उपदेश ही देते है। इनके साथ ही अहिसा के महत्त्व एव आत्मतुल्यता का आदर्श प्रस्तुत कर अहिंसा के पालन का सदेश देते है।[३१३] इस अध्याय मे अगधण कुल के सर्प,[३१४] तैल-पात्र[३१५] तथा पुण्य-पाप की स्वर्ण और लौह बेडियो से तुलना[३१६] के उदाहरण प्रयुक्त किये गये है। जो आगे चलकर उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक चूर्णि, कल्पसूत्रटीका एव कुन्दकुन्द के समयसार मे विकसित हुए है।

यह स्पष्ट है कि जैन धर्म एव दर्शन का कोई भी ऐसा पक्ष नही है जिसके मूल बीज ऋषिभाषित मे उपलब्ध नही हो। वस्तुत आज आवश्यकता इस बात की है कि इसमे वर्णित व्यक्तित्वो और उनके उपदेशो का तुलनात्मक दृष्टि से गम्भीर अध्ययन किया जाये। इस ग्रन्थ के तुलनात्मक अध्ययन की सबसे महत्त्वपूर्ण देन यह हो कि जहाँ एक ओर हम भारत की विभिन्न धार्मिक परम्पराओ की निकटता के दर्शन करेगे, वही आज की जैन परम्परा मे कहाँ से क्या आया है ? इसका भी बोध हो सकेगा।

---

३१० ऋषिभाषित ४१
३११ वही ४२
३१२ वही ४३
३१३. ऋषिभाषित ४५
३१४ वही ४५/४०, तुलनीय उत्तराध्ययन २२/४१
३१५ वही ४५/२२। ३१६ वही ४५/५०

ऋषिभाषित निर्युक्ति और ऋषिमण्डल

यहाँ ऋषिभाषित निर्युक्ति और ऋषिमण्डल के सबध मे भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। आचार्य भद्रबाहु के निर्युक्ति साहित्य मे ऋषिभाषित का उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति और सूत्रकृताग निर्युक्ति मे हुआ है। आवश्यक निर्युक्ति मे वे ऋषिभाषित पर निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा करते हुए निम्न गाथा प्रस्तुत करते है —

आवस्सगस्स दसकालिअस्स तह उत्तरज्झमायारे।
सूयगडे निज्जुत्ति वुच्छामि तहा दसाण च॥
कप्पस्स य णिज्जुति, ववहारस्सेव परमणिउणस्स।
सूरिअपण्णत्तीए, वुच्छ इसिभासिआण च॥

—आवश्यक निर्युक्ति ८४–८५

इसके पश्चात् सूत्रकृताग-निर्युक्ति मे वे ऋषिभाषित के स्वरूप और महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहते है कि—

तह वि य कोई अत्थो उप्पज्जइ तम्मि समयम्मि।
पुव्वभणिओ अणुमओ य होइ इसिभासिएसु जहा॥

—सूत्रकृताग-निर्युक्ति १८९

अर्थात् इसी प्रकार किसी सिद्धान्त (अन्य परम्परा) मे कोई विशेष अर्थ परिलक्षित होता है, तो वह ऋषिभाषित के समान पूर्वकथित और मान्य होता है। इस निर्युक्ति गाथा का एक फलित यह भी है कि ऋषिभाषित पूर्व-कथित और मान्य है। यदि पूर्व साहित्य पार्श्व की परम्परा का साहित्य है, जो महावीर की परम्परा द्वारा मान्य है, तो ऋषिभाषित पूर्व साहित्य का ग्रन्थ होने से पार्श्व की परम्परा का ग्रन्थ माना जाएगा, जिसे महावीर की परम्परा मे मान्य किया गया था। शुब्रिग ने अपनी भूमिका मे इसे पार्श्व की परम्परा से सम्बद्ध माना है।

भद्रवाहु (द्वितीय) की आवश्यक निर्युक्ति से ऋषिभाषित निर्युक्ति लिखी जाने की सूचना मिलती है। किन्तु, वर्तमान मे ऋषिभाषित निर्युक्ति अनुपलब्ध है। परिणामत आज विद्वानो मे इस विषय पर भी मतभेद है कि वे यह निर्युक्ति लिख पाये थे, या नही। सामान्य विश्वास यही है कि उन्होने ऋषिभापित पर निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा अवश्य की थी, किन्तु वे लिख नही पाये। उनके ऋषिभापित निर्युक्ति नही लिख पाने के दो कारण हो सकते है, प्रथम तो यह कि इस निर्युक्ति के लिखने का क्रम आने के पूर्व ही ये स्वर्गवासी हो गये हो अथवा दूसरे यह कि ऋषिभाषित मे अन्य परम्पराओ के ऋषियो के विचार सकलित होने से उन्होने स्वय ही उस पर निर्युक्ति लिखने का विचार त्याग दिया हो। किन्तु,

आचाराग चूर्णि मे निर्दिष्ट 'इसिमण्डलत्थू' एव उपलब्ध ऋषिमण्डल स्तव (इसिमण्डल) को देखने से मुझे ऐसा लगता है कि ऋषिभाषित निर्युक्ति लिखी अवश्य गई होगी, चाहे आज वह अनुपलब्ध हो। अपने वर्तमान रूप मे इसिमण्डल को ऋषिभाषित की निर्युक्ति तो नही माना जा सकता है, फिर भी मेरा विश्वास है कि इसमे ऋषिभाषित निर्युक्ति की कुछ गाथाये यथावत् रूप मे या परिवर्तित रूप मे अवश्य सम्मिलित है। मेरे इस विश्वास के कुछ आधार है, जिस पर विद्वानो को गम्भीरतापूर्वक विचार करके अपनी प्रतिक्रियाए व्यक्त करना चाहिए।

सर्वप्रथम तो हमे यह देखना है कि निर्युक्ति की शैली मे तथा ऋषिभाषित की शैली मे क्या कुछ समानता है ? निर्युक्ति की शैली की विशेषता यह होती है कि ग्रन्थ के जिस भाग या अध्याय पर निर्युक्ति लिखी जाती है, उसके प्रमुख शब्दो की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या के साथ उस अध्याय की विषय वस्तु का भी सक्षेप मे उल्लेख किया जाता है। इसिमण्डल मे इसिभासियाइ (ऋषिभाषित) की विषयवस्तु का सक्षिप्त विवरण देने वाली निम्न दो गाथाए मिलती है—

नारयरिसिपामुक्खे, वीसं सिरिनेमिनाहतित्थम्मि।
पन्नरस पासतित्थे, दस सिरिवीरस्स तित्थम्मि॥
पत्तेयवुद्धसाहू, नमिमो जे भासिउ सिव पत्ता।
पणयालीस इसिभासियाइ अज्झयणपवराइ॥

—इसिमण्डल–४४, ४५

उपर्युक्त दोनो गाथाये स्पष्ट रूप से इसिभासियाइ (ऋषिभाषित) पर लिखी जाने वाली किसी निर्युक्ति अथवा अन्य व्याख्या ग्रन्थ की प्रारम्भिक गाथाए हो सकती है, वैसे ये दोनो गाथाए ऋषिभाषित की सग्रहणी गाथा के रूप मे भी मानी जाती हैं। इसी प्रकार ऋषिमण्डल मे नारद के सम्बन्ध मे जो निम्न दो गाथाए उपलब्ध है वे भी ऋषिभाषित के नारद नामक अध्ययन की सक्षिप्त व्याख्या जैसी प्रतीत होती है—

सुच्चा जिणिदवयण, सच्च सोय ति पभणिओ हरिणा।
कि सच्च ति पवत्तो चितती जायजाइसरो॥
सबुद्धो जो पढम, अज्झयण सच्चमेव पन्नवई।
कुच्छुल्लनारयरिसि, त वदे सुगइमणुपत्त॥

—इसिमण्डल–४२, ४३

यदि हम इन दोनो गाथाओ की तुलना सूत्रकृताग निर्युक्ति की निम्न गाथा से करे, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि दोनो मे कितना शैली-साम्य है। सूत्रकृताग निर्युक्ति की वह गाथा इस प्रकार है—

अद्दपुरे अद्दसुतो नामेण अद्दओ त्ति अणगारो ।
तत्तो समुट्ठियमिण अज्झयण अद्दइज्ज ति ॥

—सूत्रकृताग-निर्युक्ति-गाथा–१८७

इसी प्रकार ऋषिमण्डल और सूत्रकृताग-निर्युक्ति की निम्न गाथाओ की तुलना से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनो मे कितना शैली एव भाषा-साम्य है । इसी प्रकार—

नालदाए अद्धत्तेरस–कुलकोडिकय निवासाए ।
पुच्छिअ गोअमसामि, सावयवयपच्चक्खाणविहि ॥
जो चरमजिणसमीवे, पडिवन्नो पचजामिय धम्म ।
पेढालपुत्तमुदय, त वदे मुणियसयलनय ॥

—इसिमण्डल–१०२, १०३

तुलनीय

नालदाए समीवे मणोहरे भासि इन्दभूइणा उ ।
अज्झयण उदगस्स उ एय नालदइज्ज तु ॥
पासावचिज्जो पुच्छियाइयो अज्जगोयम उदगो ।
सावगपुच्छा धम्म सोउ कहियम्मि उवसन्ता ॥

—सूत्रकृताग-निर्युक्ति–२०४, २०५

यद्यपि पौराणिकता और समास बहुल भाषा की दृष्टि से सूत्रकृताग निर्युक्ति की अपेक्षा ऋषिमण्डल की गाथाए अपेक्षाकृत कुछ परवर्ती लगती है, फिर भी दोनो मे शैली साम्य है ।

उपर्युक्त तुलनात्मक साम्यता से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषिभाषित पर कोई निर्युक्ति अवश्य लिखी गयी थी, जिसकी गाथाए यथावत् रूप मे अथवा किञ्चित् परिवर्तन के साथ पहले इसिमण्डलत्थू मे तथा बाद मे धर्मघोष कृतक माने जाने वाले ऋषिमण्डल प्रकरण (इसिमण्डल) मे सम्मिलित कर ली गई होगी । ऋषिमण्डल मे ऋषिभाषित के अधिकाश ऋषियो का उल्लेख मिलने से इस धारणा की पुष्टि होती है कि चाहे वर्तमान इसिमण्डल (ऋषिमण्डल) को ऋषिभाषित की निर्युक्ति अथवा आचाराग चूर्णि मे उल्लेखित इसिमण्डलत्थू न भी माना जाये, तो भी यह स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ उनकी अनेक गाथाओ को अपने मे समाहित करता है ।

'ऋषिमण्डल' के नाम से आज अनेक रचनाये उपलब्ध हैं । इनमे कुछ सस्कत मे और कुछ प्राकृत मे है । इनकी सूचना हमे खम्भात, पाटन और जैसलमेर

भण्डारो की हस्तप्रतो की सूचियो एव जिनरत्नकोश से मिलती है । किन्तु, प्रस्तुत विवेचन के प्रसग मे ऋषिमण्डल से हमारा तात्पर्य प्राकृत भापा मे उपलव्ध तथा सामान्यतया धर्मघोषसूरि की रचना माने जाने वाले इसिमण्डल को तपागच्छीय धर्मघोषसूरि की रचना माना है, जो चौदहवी शताव्दी के पूर्वार्द्ध मे हुए हैं । किन्तु, इसे निर्विवाद रूप से स्वीकार नही किया गया है । इसके अनेक कारण है —

१ खरतर गच्छ, तपा गच्छ, अचल गच्छ और उपकेश गच्छ आदि सभी मे धर्मघोषसूरि नामक आचार्यो के होने की सूचना पट्टावलियो से प्राप्त होती है । ऋषिमण्डल की अन्तिम प्रशस्ति-गाथा मे 'सिरिधम्मघोस' मात्र इतना उल्लेख है । अत इस आधार पर यह निश्चित करना कठिन है कि ये धर्मघोष किस गच्छ के है और कब हुए है ?

२ जैसलमेर और खम्भात के भण्डारो मे इसिमण्डल प्रकारण की प्राचीन प्रतिया उपलब्ध होती है । इनमे ऋषिमण्डल प्रकरण की वृत्ति सहित सबसे प्राचीन ताडपत्रीय प्रति जैसलमेर भण्डार मे मिलती है । इस प्रति का लेखनकाल विक्रम १३८० उल्लिखित है, अत रचना तो इसके भी पूर्व मे हुई होगी । तपागच्छ की पट्टावलियो के अनुसार तपागच्छीय धर्मघोषसूरि का समय वि स १३०२ से १३५७ माना जाता है । यदि यह उनके जीवन के उत्तरार्ध की रचना है तो मात्र २३ वर्षो मे उस पर वृत्ति लिखा जाना और उसकी प्रतिलिपियाँ हो जाना सम्भव प्रतीत नही होता है । इसी आधार पर निर्णयसागर प्रेस से मुद्रित श्री ऋषिमण्डल प्रकरण (वृतियुक्त)की भूमिका (पृ २) मे विजयोमगसूरि ने इसे तपागच्छीय धर्मघोषसूरि की रचना मानने पर मूल ग्रन्थकार की अपेक्षा व्याख्याकार की प्राचीनता सिद्ध होने की सम्भावना व्यक्त की है । उनकी दृष्टि मे यह विधिपक्ष अचलगच्छनायक जयसिहसूरि के पट्टधर धर्मघोषसूरि की रचना होने की सम्भावना है । इनका काल वि स १२०८ से १२६८ माना गया है ।

३ ऋषिमण्डल (इसिमण्डल) को धर्मघोषसूरि की रचना मानने मे सबसे बाधक प्रमाण यह है कि आचाराग-चूर्णि मे 'इसिमण्डलत्थू' का उल्लेख है । अत इतना निश्चित है कि आचाराग-चूर्णिकार के समक्ष उस नाम का कोई ग्रन्थ अवश्य था । आचाराग-चूर्णि के कर्त्ता जिनदासगणि महत्तर माने जाते है । विद्वानो ने इनका समय विक्रम सवत ६५० से ७५० तक माना है । नन्दीचूर्णि मे उसका रचनाकाल शक स० ५९८ अर्थात् वि० स० ७३३ उल्लिखित है । अत आचाराग-चूर्णि भी लगभग इसी काल की होगी । इससे यह सिद्ध होता है कि 'इसिमण्डलत्थू' इसके पूर्व अर्थात् कम से कम छठी शताब्दी की रचना अवश्य होगी । विद्वानो ने निर्युक्तियो के रचयिता भद्रबाहु (द्वितीय) का काल भी यही माना है । यहाँ यह भी सम्भावना हो सकती है कि भद्रबाहु द्वितीय ने ऋषिभाषित-निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा की हो, किन्तु बाद मे उनके स्थान पर स्वय 'इसिमण्डलत्थू' की रचना की

हो। आचारांग चूर्णि मे उल्लिखित 'इसिमण्डलत्थू' का वास्तविक स्वरूप क्या था, आज यह बता पाना कठिन है।

४. ऋषिमण्डल को धर्मघोषसूरि की ही रचना मानने मे एक अन्य कठिनाई यह भी है कि ऋषिमण्डल की सभी प्रतियो मे वे अन्तिम गाथाये नही है जिसमे उसके कर्त्ता के रूप मे धर्मघोषसूरि का नाम है। जैन विद्याशाला अहमदाबाद से प्रकाशित गुजराती भाषान्तर युक्त ऋषिमण्डल वृत्ति मे भी यह गाथा नही है। जैसलमेर भण्डार के केटलाग और खम्भात भण्डार के केटलाग मे ऋषिमण्डल की धर्मघोषसूरि कृत मानी जाने वाली प्रतियो मे भी गाथाओ की सख्या मे भिन्नता है। कुछ प्रतियो मे १०८ गाथाओ का उल्लेख है, कुछ मे २१० और किन्ही-किन्ही प्रतियो मे २२५ तथा २३३ गाथाओ का भी उल्लेख है।

मात्र यही नही, ऋषिमण्डस्तव के उपलब्ध प्रकाशित सस्करणो मे गाथाओ की सख्या मे स्पष्ट रूप से विभिन्नता परिलक्षित होती है—

(अ) ऋषिमण्डल वृत्ति शुभवर्द्धनसूरि कृत वृत्तियुक्त (प्रकाशित जैन विद्या शाला, दोशीवाडा पोल, अहमदाबाद सन् १९२५ ई.) मे २०५ गाथाये प्राप्त होती हैं। इसमे कर्त्ता के रूप मे धर्मघोषसूरि का उल्लेख नही है।

(ब) 'जैन स्तोत्र सन्दोह' मे (प्रकाशित प्राचीन जैन साहित्योद्धार ग्रन्थावलि न. १, साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद १९३२) २०९ गाथाए और अन्त मे ग्रन्थ के कर्त्ता के रूप मे धर्मघोषश्रमण का उल्लेख है।

(स) 'ऋषिमण्डल प्रकरण', (प्रकाशित पद्ममन्दिर गणि कृत वृत्ति सहित—सेठ पुष्पचन्द्र क्षेमचन्द्र, वलाद वाया अहमदाबाद सन् १९३९ ई) मे २१७ गाथाये उपलब्ध है और इसमे कर्त्ता के रूप मे 'सिरिधम्मघोससमण' का उल्लेख है।

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान मे धर्मघोषसूरि कृत माने जाने वाले ऋषिमण्डल मे एकरूपता नही है। पुन गाथाओ के क्रम मे भी भिन्नता मिलती है। अत यह सम्भावना निरस्त नही की जा सकती कि वर्तमान ऋषिमण्डल प्रकरण मे आचाराग-चूर्णि मे उल्लिखित इसिमण्डलत्थू या ऋषिभाषित निर्युक्ति की गाथाए हो। अत धर्मघोषसूरि कृतक माना जाने वाला ऋषिमण्डल प्रकरण पूर्णत उनकी ही रचना हो यह सन्देहास्पद है।

५ ऋषिमण्डल प्रकरण की अन्तिम गाथाओ के सम्बन्ध मे विचार करने पर मुझे ऐसा लगता है कि अन्तिम ३ या ४ गाथाएँ इसमे बाद मे जोड़ी गई है।

पूर्व मे ऋषिमण्डल प्रकरण देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की ही वन्दना के साथ समाप्त होता होगा। क्योकि, नन्दीसूत्र की एव कल्पसूत्र की स्थविरावलियो मे भी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण तक के आचार्यो की ही वन्दना की गई है। यदि ऋषिमण्डल प्रकरण वस्तुत धर्मघोषसूरि की रचना होती, तो इसमे देवर्द्धिगणि के वाद के कुछ प्रमुख आचार्य यथा सिद्धसेन, जिनभद्र, जिनदास, हरिभद्र, सिद्धर्षि, अभयदेव और हेमचन्द्र आदि का भी उल्लेख अवश्य होता। देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के वन्दन के पश्चात् इसमे जो ४ गाथाये मिलती है उनमे एक गाथा मे वर्तमान अवसर्पिणी के पचम आरे के अन्त मे होने वाले दु प्रसहसूरि नामक मुनि, फल्गुश्री नामक साध्वी, नागिल नामक श्रावक और सत्यश्री नामक श्राविका को वदन किया गया है। सम्पूर्ण ऋषिमण्डल मे यही एकमात्र ऐसी गाथा है जिसमे श्रावक और श्राविका को वन्दन किया गया है। पुन पचम काल के अन्त मे होने वाले साधु-साध्वी एव श्रावक-श्राविका का उल्लेख सर्वप्रथम तीर्थोद्गालिक एव व्यवहार भाष्य मे मिलता है। निश्चित ही ये रचनाए छठी शताब्दी के पूर्व की नही है। इसके पश्चात् की अगली गाथा मे भरत, ऐरावत और विदेह के भूतकालिक और वर्तमानकालिक ऋषियो को समुच्चय रूप मे वन्दन किया गया है। इसके पश्चात् की गाथा मे ब्राह्मी, सुन्दरी, राजीमती, चन्दना आदि को वन्दन किया गया है। साध्वियो को वदन इन्ही गाथाओ मे हुआ है। अन्तिम गाथा मे ग्रन्थ के रचयिता के रूप मे धर्मघोषसूरि का उल्लेख हुआ है। इसमे भी लेखक ने अपने को 'श्रीधर्मघोष' (सिरिधम्मघोस) कहा है। लेखक द्वारा अपने आगे 'श्री' का प्रयोग भी विचारणीय है। मुझे लगता है कि ये गाथाएँ प्राचीन 'इसिमण्डलत्थू' को ही कुछ सशोधित परिवर्द्धित करके बाद मे जोड दी गई होगी। यदि यह स्वतन्त्र रचना भी मानी जाये तो भी यह मानने मे तो कोई आपत्ति नही होनी चाहिए कि प्रस्तुत कृति आचाराग चूर्णि मे उल्लिखित इसिमण्डलत्थू के आधार पर निर्मित हुई होगी। विद्वानो से इस सम्बन्ध मे गम्भीर गवेषणाओ की अपेक्षा है।

ऋषिभाषित की भाषा

ऋषिभाषित का भाषायी स्वरूप एव छन्द-योजना को लेकर प्रो शुब्रिग ने अपनी भूमिका मे विस्तार से विचार किया है। उन्होने उपलब्ध विभिन्न हस्तप्रतो मे प्राप्त पाठान्तरो की भी चर्चा की है, अत. इस सम्बन्ध मे और अधिक विवेचन न तो आवश्यक ही है और न मै उसके लिये अपने को अधिकारी विद्वान ही मानता हूँ। फिर भी मेरी दृष्टि मे प्रो शुब्रिग द्वारा सम्पादित मूल पाठ के भी भाषायी दृष्टि से पुन सम्पादन की आवश्यकता अनुभव करता हूँ।

जहाँ तक ऋषिभाषित की भाषा का प्रश्न है, वह अर्धमागधी का प्राचीन रूप है, जिसकी कही-कही सस्कृत से निकटता देखी जाती है। भाषा की प्राचीनता

की दृष्टि से उसे आचाराग प्रथम श्रुतस्कध और सूत्रकृताग-उत्तराध्ययन के मध्य रखा जा सकता है । जहाँ सूत्रकृताग और उत्तराध्ययन मे महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव आ गया है, वहाँ ऋषिभाषित की भाषा सामान्यतया महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव से मुक्त कही जा सकती है । यद्यपि इसमे भी किञ्चित् रूप महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित प्रतीत होते है । किन्तु, उन स्थलो के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह प्रभाव लहियो (प्रतिलिपिकारो) के दोप के कारण ही आया होगा । उदाहरण के रूप मे ऋपिभापित के ४५ अध्ययनो मे से ४३ अध्ययनो मे 'बुइय' अथवा 'बुइत' शब्द का प्रयोग है, किन्तु इनमे भी ३६ अध्ययनो मे 'बुइत' पाठ है, मात्र ७ अध्ययनो मे 'बुइय' पाठ है । निश्चित ही 'बुइय' पाठ महाराष्ट्री प्रभाव का सूचक है, किन्तु यह युक्तियुक्त प्रतीत नही होता कि स्वय लेखक ने ३६ अध्यायो मे 'बुइत' पाठ रखा हो और सात मे 'बुइय' पाठ रखा हो । स्पष्ट है कि 'बुइय' पाठ लहियो की सजगता के अभाव मे एव उन पर महाराष्ट्री के प्रभाव के कारण आ गया होगा । इसी प्रकार 'जधा' और 'जहा', 'मूसीकार' और 'मूसीयार', 'ताती' और 'ताई', 'धूता' और धूय', 'लोए' और 'लोगे' पाठो को लेकर भी चर्चा की जा सकती है । चालीसवे अध्ययन के अन्त मे जहा और जधा दोनो ही पाठ एक ही पक्ति मे प्रयुक्त हुए है, जैसे—'जहा वल जधा विरिय' निश्चित रूप से ये दोनो प्रयोग मूल लेखक को अभीष्ट नही होगे, कालक्रम से ही यह परिवर्तन आया होगा ।

पुन , जहाँ इसके तीसरे, पच्चीसवे एव पैतालीसवे अध्ययन मे केवल जधा पाठ का ही प्रयोग देखा जाता है, वहाँ नवे, बारहवे, बाईसवे और अट्ठाइसवे अध्ययन मे केवल जहा शब्द का ही प्रयोग मिलता है, अत विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या अध्यायो के सकलन मे जहाँ जिस प्रकार का पाठ था, उसे यथावत् रख लिया गया था ? अथवा ये परिवर्तन परवर्ती प्रभाव के कारण हुए है ? सामान्यतया ऋषिभापित मे प्रथम पुरुष के प्रयोग जैसे पभासती, जायति, मेघती, हिसती, जीवती, विन्दती, विज्जती, छिन्दती, सीदति, विसुज्झती, वस्सती, सिंचति, लुप्पती आदि पाये जाते है और महाराष्ट्री प्राकृत के समान इनमे अन्तिम व्यञ्जन के लोप की प्रवृत्ति नही देखी जाती है । सम्पूर्ण ऋषिभाषित मे आठ-दस स्थलो के अतिरिक्त हमे कही भी अतिम व्यजन का लोप दृष्टिगोचर नही हुआ । इसी प्रकार ऋषिभाषित मे 'त' श्रुति के स्थान पर 'य' श्रुति के प्रयोग भी नगण्य ही है । सामान्यतया सम्पूर्ण ऋषिभासित 'त' श्रुतिप्रधान ही है । आत्मा के लिए उसमे एक दो स्थलो को छोडकर सर्वत्र आता शब्द का प्रयोग हुआ है । दसवे अध्ययन मे सर्वत्र तेतलीपुत्त शब्द का ही प्रयोग है न कि तेयलिपुत्त—जैसा कि ज्ञाताधर्मकथा मे पाया जाता है । इसी प्रकार इस अध्याय मे उसकी पत्नी के लिए 'मूसिकारधूता' शब्द का प्रयोग हुआ है । यद्यपि एक स्थान पर 'धूय' शब्द का प्रयोग भी देखा जाता है । स्पष्ट है कि ये महाराष्ट्री प्रभावित परवर्ती रूप मूल

ग्रन्थ मे परवर्ती प्रभाव से ही आये होगे। हो सकता है कि जब इस ग्रन्थ की ताडपत्रो पर प्रतिलिपियाँ की गयी होगी, तब ये परिवर्तन उस युग की भाषा के प्रभाव के कारण प्रतिलिपिकारो के द्वारा इसमे आ गये होगे। यद्यपि महाराष्ट्री प्राकृत का यह प्रभाव ऋषिभाषित मे दो प्रतिशत से ज्यादा नही है, जबकि प्राचीन माने जाने वाले अर्धमागधी आगम यथा–आचाराग, सूत्रकृताग, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक मे यह प्रभाव लगभग पन्द्रह से पचीस प्रतिशत के लगभग है। यद्यपि इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि जहाँ उत्तराध्ययन और दशवैकालिक अधिक प्रचलन मे रहे, वहाँ ऋषिभाषित उतना प्रचलन मे नही रहा। फलत. उस पर उच्चारण मे हुए परिवर्तनो का प्रभाव कम हुआ हो, जबकि इन ग्रन्थो के अधिक प्रचलन मे रहने के कारण इनके ताडपत्र आदि पर लिखे जाने के पूर्व ही अन्तिम वाचना तक यह प्रभाव आ चुका होगा। दुर्भाग्य से आगमो के सम्पादन के समय इन तथ्यो पर ध्यान नही दिया गया और उनकी भाषा के प्राचीनतम स्वरूप को सुरक्षित रखने का प्रयास नही किया गया। मैं समझता हूँ अर्धमागधी के प्राचीन गन्थो यथा—आचाराग, सूत्रकृताग, ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, कल्पसूत्र आदि की प्राचीन हस्तप्रतो को सकलित किया जाये और यदि किसी भी हस्तप्रत मे प्राचीन पाठ मिलता है तो उसे सुरक्षित रखा जाये। मात्र यही नही, जब एक ही पक्ति मे आता और आया, जधा और जहा, लोए और लोगे पाठ हो तो उनमे से प्राचीन पाठ को ही मान्यता दी जाये। यह सन्तोष का विषय है कि इस दिशा मे प्रो मधुसुदन ढाकी, प्रो के आर चन्द्रा आदि कुछ विद्वानो ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है और हम आशा करते है कि भविष्य मे जो आगम पाठो का सम्पादन होगा, उनमे इन तथ्यो पर अधिक ध्यान दिया जायेगा, क्योकि ग्रन्थ का भाषायी स्वरूप उसके काल-निर्णय मे बहुत कुछ सहायक होता है, अत. विद्वानो का यह दायित्व है कि ग्रन्थो की भाषा के प्राचीनतम स्वरूप को सुरक्षित रखे।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम यह पाते है कि आचाराग, सूत्र-कृताग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक और ज्ञाताधर्मकथा के अनेक गाथाश, गद्याश और शब्द ऋषिभाषित मे भी उपलब्ध है, किन्तु दोनो के भाषायी स्वरूप के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋषिभाषित का पाठ भाषा की दृष्टि से प्राचीन है। उदाहरण के रूप मे ऋषिभाषित के तेतलीपुत्त नामक अध्ययन और ज्ञाता का तेयलिपुत्त नामक अध्ययन के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋषिभाषित की भाषा 'त' श्रुतिप्रधान और अधिक प्राचीन है। इसी प्रकार आचाराग, सूत्रकृताग, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक मे जहाँ आत्मा के लिये 'आया' शब्द का प्रयोग है वही, ऋषिभाषित मे एक-दो स्थलो को छोड़कर सर्वत्र 'आता' शब्द का प्रयोग है। इससे इसकी प्राचीनता सुस्पष्ट हो जाती है।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते है कि अपनी भाषा और विषय-वस्तु दोनो की दृष्टि से ऋषिभाषित प्राकृत वाड्मय का प्राचीनतम ग्रन्थ सिद्ध होता है। जैसा कि हम पूर्व मे सिद्ध कर चुके है—"यह ग्रन्थ सम्पूर्ण पालि और प्राकृत साहित्य मे आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोडकर प्राचीनतम एव ई पू पाचवी शती का ग्रन्थ है।" इस ग्रन्थ का महत्त्व न केवल इसकी प्राचीनता की दृष्टि से है, अपितु इसमे प्राचीनकालीन ऋषियो एव उनकी मान्यताओ के जो उल्लेख मिलते है, वे भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमे अनेक ऐसे प्राचीन ऋषियो के उल्लेख मिलते हैं, जिनके सम्बन्ध मे अब अन्य कोई जानकारी का स्रोत ही नही रह जाता। इस ग्रन्थ की सबसे बडी विशेषता इसका साम्प्रदायिक अभिनिवेशो से मुक्त होना है। जैन परम्परा मे इस ग्रन्थ का निर्माण जहाँ एक ओर जैन धर्म की सहिष्णु और उदारदृष्टि का परिचायक है वहाँ दूसरी ओर यह इस बात का भी सूचक है कि सम्पूर्ण भारतीय आध्यात्मिक धारा अपने मूल मे एक ही है, चाहे वह आगे चलकर औपनिषदिक, बौद्ध, जैन, आजीवक आदि परम्पराओ मे विभक्त हो गई हो। ऋषिभाषित ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है, जिसमे औपनिषदिक ऋषियो, ब्राह्मण परिव्राजको, आजीवक श्रमणो, बौद्ध भिक्षुओ और जैन मुनियो के उपदेशो को एक ही साथ सकलित किया गया है। यह ग्रन्थ भारतीय समन्वयात्मक एव उदार जीवन दृष्टि का स्पष्ट प्रमाण है। आज जब हम साम्प्रदायिक अभिनिवेश एव विद्वेष मे आकण्ठ डूबे हुए है यह महान ग्रन्थ हमारा मार्गदर्शक हो सकता है। आशा है इस ग्रन्थ का व्यापक प्रसार हमे साम्प्रदायिक मतान्धता से मुक्त कर सकेगा।

आभार

मैं सर्वप्रथम तो **प्राकृत भारती अकादमी** के मत्री **श्री देवेन्द्रराज मेहता** एव **महोपाध्याय विनयसागरजी** का आभारी हूँ जिनके अत्याधिक आग्रह और धैर्य के कारण यह विस्तृत प्राक्कथन शीघ्र पूर्ण हो सका है। यद्यपि इस सम्बन्ध मे अभी भी अधिक गम्भीर चिन्तन अपेक्षित है। आशा है हमारे युवा विद्वान् इस कमी को पूरा करेगे। मेरे कारण इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे भी पर्याप्त विलम्ब हुआ है इसके लिए मैं प्रकाशको और पाठको दोनो के प्रति क्षमाप्रार्थी हूँ।

साथ ही मै प्रो शुब्रिग आदि उन सब विद्वानो का भी आभारी हूँ जिन्होने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के सम्बन्ध मे शोधपरक दृष्टि से चिन्तन और विचार-विमर्श किया तथा जिनके लेखनो से मै लाभान्वित हुआ हूँ। इसी प्रकार मैं Dictionary of Palı Proper Names, Prakrıt Proper Names, वैदिक कोश,

महाभारतनामानुक्रमणिका आदि के लेखको का भी आभारी हूँ जिनके कारण अनेक सन्दर्भ मुझे सहज सुलभ हो सके। अन्त मे प्रो० मधुसुदन ढाकी एव मेरे शोधछात्र और सहयोगी डॉ० अरुणप्रताप सिह, डॉ० शिवप्रसाद, डॉ० अशोककुमार सिह आदि का आभारी हूँ जिनका इस प्राक्कथन को पूर्ण करने मे मुझे सहयोग मिला है।

सागरमल जैन
आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग
म. ल. बा कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
ग्वालियर